* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ६६

संख्या ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, वि॰-सं॰ २०४९, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१८, सितम्बर १९९२ ई॰

विषय — पृष्ठ-संख्या

१-जागिए गोपाल लाल ६८९
२-कल्याण (शिव) ६९०
३-अमूल्य समयका सदुपयोग कैसे करें ? (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्राचीन प्रवचन) ... ६९१
४-भगवद्दर्शनका आह्लाद (महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी) .. ६९४
५-मौन व्याख्यान (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ६९६
६-शाकाहारका आध्यात्मिक महत्त्व (प्रो॰ श्रीरणजीतजी त्रिपाठी) ६९८
७-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ७०३
८-सम्बन्ध विच्छेद—एक अनुपम साधना (एक साधक) ७०५
९-विद्या किसे आती है ? (डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰) ७०८
१०-जीवनका लक्ष्य (डॉ॰ श्रीसुनीलकुमारजी) ७१०
११-तृष्णाका अन्त नहीं है ७११
१२-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ७१२
१३-भगवत्प्राप्तिका सर्वोच्च साधन—भगवान्‌में अपनापन (डॉ॰ श्रीबद्रीप्रसादजी गुप्ता) ७१३
१४-भगवत्कृपाकी अद्भुत महिमा (श्रीबनवारीलालजी गोयन्का) ७१५
१५-भक्त नवीनचन्द्र [भक्तगाथा] ७१६
१६-सूर्य-किरण-चिकित्सा [शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्] (डॉ॰ बी॰ एम॰ वैष्णव) ७१८
१७-भगवान् श्रीरामकी दीन-वत्सलता ७२०
१८-व्रत-परिचय (पं॰ श्रीहनूमान्‌जी शर्मा) ७२१
१९-पढ़ो, समझो और करो ७२३
२०-मनन करने योग्य [सोनेके कड़ेके संस्कार] (श्रीधीरजलालजी परीख) ७२५
२१-सच्ची वीरता ७२६

चित्र-सूची

१-नन्दनन्दनके वेणुवादनसे मयूरोंका आनन्दित होना (इकरंगा) आवरण-पृष्ठ
२-'जागिए, ब्रजराज कुँवर' (रंगीन) मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.५० रु॰
विदेशमें २० पैंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ५५.००रु॰
विदेशमें ९ डालर
(अमेरिकन)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

'जागिए, ब्रजराज कुँवर'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
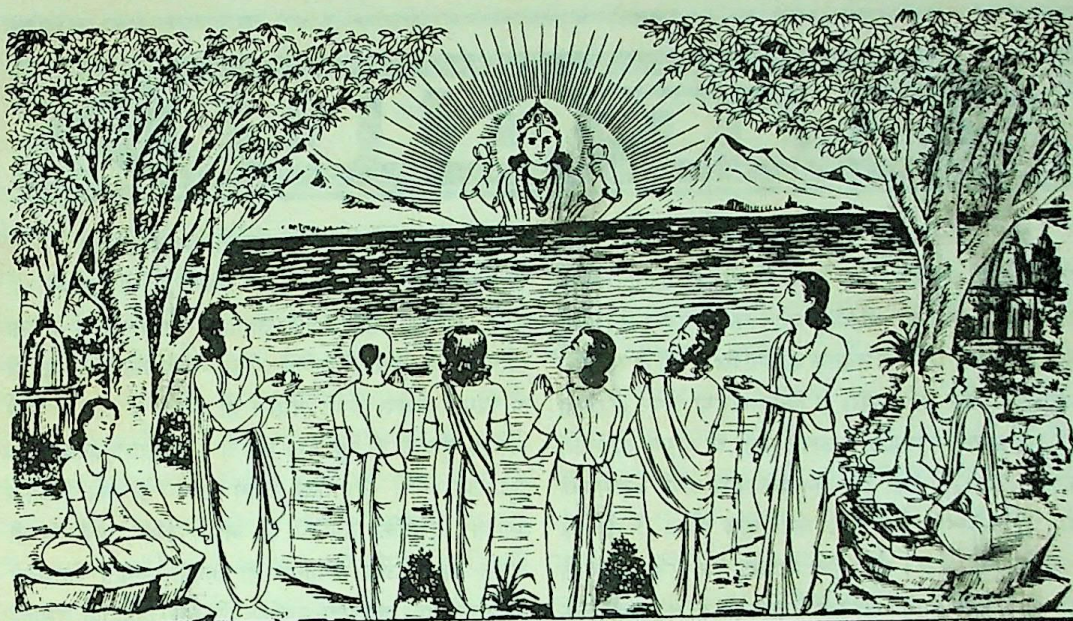
एहि सूर्य सहस्त्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥

वर्ष ६६ } गोरखपुर, सौर आश्विन, वि॰सं॰ २०४९, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१८, सितम्बर १९९२ ई॰ { संख्या ९ पूर्ण संख्या ७९०

जागिए गोपाल लाल

प्रात भयौ जागौ गोपाल।
नवल सुंदरी आईं, बोलत तुमहिं सबै ब्रजबाल ॥
प्रगट्यौ भानु, मंद भयौ उड़पति फूले तरुन तमाल।
दरसन कौं ठाढ़ी ब्रजबनिता, गूँथि कुसुम बनमाल ॥
मुखहिं धोइ सुंदर बलिहारी, करहु कलेऊ लाल।
सूरदास प्रभु आनँद के निधि, अंबुज-नैन बिसाल ॥

कल्याण

याद रखो—मनके मलोंमें सबसे बढ़कर गहरा चिपटा हुआ मल है अहंकार। यह सहज ही दूर नहीं होता। इसके नाशके लिये लगातार जी-तोड़ जतन करना पड़ता है। परंतु जबतक अहंकार रहता है तबतक साधना सिद्ध नहीं हो सकती। अहंकारकी जरा-सी हुंकारसे ही किया-कराया चौपट हो जाता है। अहंकारका नाश होता है अपने गौरव या बड़प्पनका त्याग करनेसे ! बात भी यही है—मनुष्यके पास अपने बड़प्पनकी वस्तु ही कौन-सी है? यदि कहीं कुछ गौरव है तो वह श्रीभगवान्‌का ही है। जो मनुष्य मोहवश भगवान्‌के गौरवको छीनकर अपनेमें आरोप करनेकी चेष्टा करता है, वह अहंकारके वशमें हो जाता है। और जहाँ अहंकारका अङ्कुर पैदा हुआ, वहीं सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं—**'अहंकाराङ्कुरस्याग्रे तदा पुण्यं न तिष्ठति।'**

याद रखो—भगवान्‌को छोड़कर और किसीका भी सहारा ऐसा नहीं है जो तुम्हारी सारी विपत्तियोंका समूल नाश कर दे। यहाँतक कि साधन करनेवाला पुरुष भी यदि यह मानता है कि इस साधनके बलसे मैं सारी बाधा-विपत्तियोंसे छूट जाऊँगा तो वह भी गलती करता है। सर्वविपद्भञ्जन तो एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं। उनकी अहैतुकी और असीम दयापर विश्वास करके—उन्हींकी दयाका आश्रय करके साधन-भजन करना चाहिये।

याद रखो—श्रीभगवान् मङ्गलमय हैं, उन्होंने तुम्हारे लिये जो कुछ भी विधान कर दिया है, वह सर्वथा मङ्गलसे परिपूर्ण है। यदि तुम उनके मङ्गल-विधानको प्रसन्नताके साथ स्वीकार न करोगे तो निश्चय समझो कि तुम बड़े ही अभागे हो। तुम अबोध हो, तुम्हें वह बुद्धि ही कहाँ है कि जिससे तुम अपनी सच्ची भलाई-बुराईको समझ सको। इसीसे दयासागर सर्वज्ञ भगवान्‌ने तुम्हारा सारा भार अपने ऊपर ले रखा है। तुम्हारा तो बस यही काम है कि तुम उनके मङ्गलमय श्रीचरणोंमें अपनेको समर्पित कर दो और पूर्णरूपसे निर्भय तथा निश्चिन्त होकर उनके प्रत्येक विधानको सानन्द सिर चढ़ाते रहो !

याद रखो—जिसका हृदय संकीर्ण है, जो दूसरेकी श्री, कीर्ति, सम्पत्ति, शान्ति और उन्नतिको देखकर सदा जलता रहता है, जो दूसरोंकी हानिमें आनन्द-लाभ करता है, वह न तो परमार्थ-पथपर कभी अग्रसर हो सकता है और न कभी असली सुखका ही मुँह देख सकता है। अतएव हृदयके इन क्षुद्र और नीच विचारोंका त्याग करके हृदयको विशाल बनाओ। दूसरोंकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति, मङ्गलमें ही अपना मङ्गल और सम्पत्तिमें ही अपनी सम्पत्ति समझकर प्रसन्न होते रहो एवं सदा सच्चे हृदयसे यही चाहो कि संसारमें सभी जीव सच्ची श्री-कीर्ति, सम्पत्ति-उन्नति और सुख-शान्तिको प्राप्त करें।

याद रखो—जब कभी तुमपर कोई विपत्ति आती है तो विपद्हारी भगवान् सदा तुम्हारी रक्षाके लिये तुम्हारे पीछे खड़े होते हैं। तुम जो अपने सामने एक घना अन्धकार देखते हो वह तो तुम्हारी अपनी ही छाया है। भगवान्‌के उस परम प्रकाशमय दिव्य स्वरूपको देखो जो अपनी विशाल भुजा पसारे तुम्हें अपनी छातीसे चिपटाकर सदाके लिये सुखी करनेको तैयार खड़े हैं।

याद रखो—विकाररूपा प्रकृतिमें स्थित सभी जीव भूलसे भरे हैं, किसीमें कम तो किसीमें अधिक, दोष सभीमें रहते हैं। तुम कितने ही भले क्यों न हो सर्वथा निर्दोष नहीं हो। अतः किसी भी दूसरेका दोष मत देखो, दीख जाय तो उसकी निन्दा मत करो। देखो—तुम्हारे अंदर वैसे ही दोष हैं या नहीं, यदि हैं तो उनके लिये पश्चात्ताप करो और चेष्टा करो जिसमें वे मिट जायँ। निश्चय समझो—दुनिया उसी रंगकी दीखती है जिस रंगका चश्मा होता है। तुम निर्दोष हो जाओगे तो फिर तुम्हें कहीं दोष दीखेगा ही नहीं। ब्रह्मनिष्ठको सर्वत्र ब्रह्म ही दीखा करता है।

'शिव'

अमूल्य समयका सदुपयोग कैसे करें ?

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्राचीन प्रवचन)

प्रतिक्षण समय बीतता जा रहा है, जो समय चला जाता है वह फिर लौटकर नहीं आता। जितनी आयु हमारी चली गयी वह तो लाख रुपये खर्च करनेपर भी वापस नहीं आती। समयसे तो ऐश, आराम, भोग तथा भगवान्‌तक भी मिल जाते हैं, पर समय किसीसे नहीं मिल सकता। मनुष्यका जन्म बार-बार नहीं मिलेगा, मनुष्य-जीवनका समय अमूल्य है, जिसका उपयोग ठीकसे करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। ऐसे जीवनको किसी भी अन्य कार्यमें लगावे तो उसकी पूर्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही अपने समयको लगाना चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिके साधनके सिवा अपनी वाणीसे व्यर्थ बकवाद न करें, कानोंसे दूसरी बातें न सुनें तथा नेत्रोंसे अन्य किसीको न देखें और न हृदयमें स्थान ही दें। ये अपने फाटक हैं, इन्हें भगवान्‌के लिये ही खोलना है और दूसरे कार्योंके लिये इन द्वारोंको बंद रखना चाहिये। भगवान्‌की दी हुई चीजें—स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्य, धन, शरीर, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ और अपना जीवन तथा प्राण—सब कुछ भगवान्‌की प्राप्तिके काममें लगा दें तो हमारा जीवन सफल हो जाय। भगवान्‌की दी हुई जो चीज है उससे और अधिककी भगवान् आशा भी नहीं करते और कहते भी नहीं और कहें भी तो हम लावेंगे कहाँसे? भगवान् कहते हैं जो तेरे अधिकारमें है वह सब मुझको समर्पण कर दे, बस बेड़ा पार है। इकरार तो यह है कि सब-का-सब भगवान्‌के समर्पण कर देवें, पर हमें ऐसा विश्वास है कि इसमें त्रुटि भी रह जाय तो उसकी पूर्ति करके भगवान् मदद करते हैं, उसका कार्य सिद्ध कर देते हैं, नहीं तो फिर अपात्र-कुपात्रको भगवान्‌की प्राप्ति कैसे हो। इसे एक कहानीके माध्यमसे समझें—

एक सज्जन किसी धनी महाजनसे दस हजार रुपये ऋणके रूपमें लाये और व्यापार किया। उसमें घाटा लग गया। पाँच हजार रुपये तो उस घाटेमें समाप्त हो गये। मात्र पाँच हजार बचे। महाजनको जब मालूम हुआ कि पाँच हजार रुपये तो समाप्त हो गये और पाँच हजार रुपये बचे हैं तो उन्होंने उसको अपने विश्वासी आदमीके द्वारा कहला दिया कि तुम किसी बातकी चिन्ता मत करना। तुम्हारे पास जो रुपये बच गये हैं, बस उसको तुम दे दो। तुम्हारा खाता चुकता कर देंगे। तुम्हें ऋणसे मुक्त कर देंगे। तो उसने सच्चे दिलसे जो कुछ था वह सब महाजनको सौंप दिया। जितने पैसे पासमें थे सब सौंप दिये और जो घरपर तथा दूकानमें सामान था वह सब भी लाकर महाजनको सौंप दिया। पाँच हजार रुपयेकी पूर्ति तो हो गयी, पाँच हजार रुपये बाकी रहे। तो महाजनने कहा कि 'हम तुम्हें दस हजारकी फाड़गती (ऋण-मुक्ति) देते हैं अर्थात् तुम्हारा खाता चुकता कर देते हैं,' यह सुनकर वह रोते हुए बोला—हम पाँच हजार रुपये माफ नहीं कराना चाहते, आपने पाँच हजार रुपयेकी फाड़गती दी और पाँच हजार रुपये जो बाकी हैं वे हमसे काम करवाकर चुकता करा लेवें। हमारी स्त्री, हमारा लड़का तथा हमें कहीं बिक्री कर दें या हमलोगोंको नौकरीमें लगा दें। हम सबके खानेके अतिरिक्त जो बचेगा, वह आपके पास जमा कर देंगे। रखकर क्या करना है। तब महाजनने पाँच हजार रुपये उसके ऋणके पेटे जमा करवा लिये और बाकी पाँच हजार उसके नाम रखे। ऋणीने कहा कि इन पाँच हजार रुपयोंकी आप रजिस्ट्री करा लो, फिर मैं पासमें रुपये होनेपर ना नहीं कर सकूँगा। आज तो हमारा मन ठीक है, कल हमारा मन खराब हो जाय। महाजनने कहा—जिसकी ऐसी नीयत है उसके लिये कोई चिन्ताकी बात नहीं। तुम एक काम करो, हम तुम्हें एक दूकान खुलवा देते हैं। वह बोला— दूकान तो आप खुलवा देंगे, किंतु उसमें यदि फिर घाटा लगेगा तो मैं कहाँसे लाऊँगा। पाँच हजार रुपयेका मेरे सिरपर पहलेसे ही ऋण है, घाटा होनेसे और ऋण बढ़ जायगा तो महाजनने कहा कि हम दूकानमें ऐसा कर देंगे कि तुम्हारा घाटेमें हिस्सा नहीं रहेगा और मुनाफेमें चौथाई हिस्सा रहेगा। घाटे-मुनाफे दोनोंमें हो तो आधा तुम्हारा आधा हमारा। किंतु तुम्हारा केवल नफेमें ही हिस्सा रहेगा तो एक चौथाई तुम्हारा तीन चौथाई हमारा। वह बोला—आपकी इच्छा। महाजनने दूकान करवा दी और अपना एक आदमी दे दिया। रोजगार होता रहा। वह, उसकी स्त्री और लड़का सब एक ही समय रोटी खाते, जिससे उसका खर्च कम रहा और जो बचा उसे महाजनके पास जमा करता रहा। इस तरह महाजनकी

ऋणवाली सब रकम पूर्ण हो गयी।

दूसरा एक बेईमान आदमी था। उसने भी महाजनसे दस हजार रुपये लिये थे, उसकी नीयत खोटी थी। उसे भी पाँच हजार रुपयेका घाटा लगा, किंतु उसने कह दिया कि मुझे तो ऐसा घाटा लगा कि आपके दस हजार रुपये समाप्त हो गये। दस हजार रुपये आप और लगायें तो शायद पहलेके दस हजार रुपये आपको मिल जायँ। महाजनने कहा—'हम तुम्हारा विश्वास नहीं करते।' वह बोला—'अमुक आदमीको तो आपने दस हजार रुपये लगाकर दूकान करा दी।' बोले—'भैया ! उसकी नीयत अच्छी है।' वह बोला—'हमारी नीयत उससे बढ़कर है।' बोले—'है तो बढ़कर पर खोटी है। उसने तो अपने घरमें जो कुछ था सब लाकर रख दिया।' वह बोला—'हम कहाँसे रख दें, हमारा तो सब खतम हो गया। अब और हमें थोड़ा दो।' तो महाजन बोले—'तुम्हें नहीं मिल सकता।' अतः उसको एक पैसा भी नहीं दिया। यह तो दृष्टान्त है। इसको दार्ष्टान्तमें इस प्रकार समझना चाहिये। बेईमानके लिये तो यह उत्तर है—

आये थे कछु लाभ को खोय चले सब मूल।
फिर जाओगे सेठ पै पल्ले पड़ेगी धूल॥

इस प्रकार हम सब लोग लाभके लिये आये थे। हमलोगोंने जो ऋण लिया, वह सब समाप्त करके अब फिर सेठके पास जायँगे कि आपने जो कुछ ऋण दिया था, वह सब समाप्त हो गया और अबकी बार फिर दे दीजिये तो पहलेका ऋण और यह ऋण भी चुका देंगे। सेठने इनकार कर दिया कि एक पैसा भी नहीं देंगे। तो इस संसारमें जो दूसरोंके बलपर कमर कस करके मजेसे खर्च करते हैं वे तो बेईमान आदमी हैं। उनको फिर इस संसारमें मनुष्यका शरीर मिलना सम्भव नहीं है। मनुष्यका जो शरीर है, इसका जो जीवन है, वह असली धन है। इस मनुष्य-शरीरको पा करके जो जीवन-धनको अर्थात् समयको बरबाद करता रहता है और बरबाद करके फिर जाकर धर्मराजके सम्मुख खड़ा हो जाता है और कहता है कि 'मुझे पुनः मनुष्यका शरीर दो।' तो यमराज कहते हैं कि 'मूर्ख ! जो तुझे दिया उसे तो तूने मिट्टीमें मिला दिया। तुझे शर्म नहीं आती ? तू फिर माँगनेके लिये आ गया, अब मनुष्यका शरीर तुझे नहीं मिलेगा। तुझे तो घोर नरक-यातना भोगनी पड़ेगी।' जो मनुष्य संसारमें आ करके खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ **(ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्)** चार्वाकके इस सिद्धान्तको स्वीकार करता है उसकी यहाँ और वहाँ भी दुर्दशा होती है। तो संसारमें जो आदमी अपने लाभसे अधिक खर्च करता है उसमें बेईमानीके लक्षण हैं। जिसे महाजनकी रकम खर्च करनी ही नहीं है, चाहे भूखों मर जाय उसकी उत्तम नीयत है। जो मनमें ऐसी धारणा कर लेवे कि अपना प्रतिदिन पाँच रुपयेका रोजगार होता है तो उससे अधिक खर्च नहीं करना। उसे पाँच रुपयेका ही अन्न खरीद कर अपने कुटुम्बका पालन करना है। बोले, कि 'उससे काम नहीं चले तो।' नहीं चले तो क्या होगा, मृत्यु ही तो होगी। किंतु वह मरना भी मुक्तिको देनेवाला है। और भगवान् मरने नहीं देंगे यह विश्वास रखना चाहिये। इसपर एक इतिहास याद आ गया—

चित्रकूटमें एक संत थे। उनका नाम था श्रीराम-नारायणजी ब्रह्मचारी। वे अपना भजन-ध्यान करते थे और जीविकाके लिये उनके पास खेत, दो बैल और एक गाय थी। गाय और बैलोंको खेतमें चराते तथा खेत बोते और उसमें जो कुछ घास आदि होती वह तो गाय और बैलको खिला दिया करते और अन्नसे अपने शरीरका निर्वाह करते। नमक, कपड़ा या अन्य आवश्यक वस्तुएँ अन्न देकर बदल लेते, अन्नकी बिक्री नहीं करते। कोई आदमी उनको संत-महात्मा समझकर उनके लिये भेंटमें फल ले जाता तो लेते नहीं। अपने खानेके लिये अन्न उपजा लेते। उससे अपना काम चलाते, अतः दूसरेकी चीज किसी हालतमें नहीं लेते। ऐसा उनका नियम था। किसीने पूछा कि 'महाराज ! आप लेते ही नहीं, किंतु किसी वर्ष वर्षा नहीं हुई तो ?' वे बोले—'ऐसा हो ही कैसे सकता है कि वर्षा न हो। जिसने पैदा किया है, उसको जिंदा रखना है, वह तो वर्षा करेगा ही। हमारे पास तो कोई स्टाक और पूँजी नहीं है। तथा दूसरेकी चीज हम लेते नहीं हैं तो हमारा निर्वाह उनको करना होगा।' उनके खेतमें तो वर्षा होती ही थी और वे उससे अपना निर्वाह किया करते थे। जो आदमी सर्वथा भगवान्‌के ही भरोसे हो जाता है, उसकी भगवान्‌को चिन्ता रहती है, सब प्रबन्ध भगवान् करते हैं। तो वे त्यागी और वृद्ध पुरुष थे, बहुतोंने उनका दर्शन किया है, हमने भी उनका दर्शन किया है। कोई भी चीज किसीसे किसी

भी हालतमें नहीं लेते थे, यह उनका पक्का नियम था। कोई उनके द्वारपर आ जाय तो उन्हें देखकर कहते कि 'तुम भी भोजन कर लो।' वह कहता—'महाराज! नहीं, आपको संकोच हो जायगा, क्योंकि भोजन परिमित ही है।' वे कहते—'नहीं-नहीं, हम उतनेसे अपना काम चला लेंगे।' गायका जो दूध होता है उसे वे तथा उनके सेवक दोनों ही पी लेते हैं और कोई बाहरका आदमी आ जाता है तो कहते, लो भाई! तुम भी पी लो। उसमेंसे ही घी भी बना लेते बिलोकर। जब गाय दूध नहीं देती तो उस समय घी लिया करते। एक गाय, दो बैल, एक उनका सेवक और एक आप—इन सबका कार्य उस खेतसे चला करता, पर किसीसे कुछ लेना नहीं। दिन-रात भजन-ध्यान, मात्र पाँच-छः घंटे शयन करना और शेष समयमें खूब जप-ध्यान करना। यदि कोई वहाँ चला जाय और शिक्षाकी बात पूछी तो कह दी, नहीं तो कुछ नहीं। इस प्रकार अपना जीवन बिताया करते थे। तो जो आदमी भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जाया करता है, सब प्रकारसे भगवान् उसके लिये चेष्टा करते हैं।

पहले जिस एक दृष्टान्तकी चर्चा की गयी है उसका तात्पर्य है कि हमलोग जो यहाँ आये हैं, हमारा महाजन धर्मराज है, उससे सौ वर्षकी आयु लेकर यहाँ आये, उसमें पचास वर्षकी आयु बीत गयी अर्थात् दस हजार रुपये ही सौ वर्षकी आयु है और महाजन ही धर्मराज है। धर्मराजने किसी महात्माके द्वारा कहलाया कि जो धन चला गया सो चला गया बाकीको तुम दे दो। तो उसने जो आधा अपने पास बचा था सब दे दिया। अपने तन, मनको और सब चीजोंको भगवान्‌के समर्पण कर दिया। धर्मराज और भगवान् एक ही हैं, यहाँ दो नहीं हैं, सब कुछ आपने भगवान्‌के समर्पण कर दिया। भगवान्‌ने आधा लेकर इसका खाता चुकता कर दिया तो वह रोने लगा कि मैं इस प्रकार नहीं चाहता, (संसारसे उद्धार कर दो वही खाता चुकता करना है।) वे ऋणसे मुक्त करते हैं तो वह नहीं चाहता कि ऐसे हमें ऋण-मुक्त करें। हमारेसे परिश्रम करवा करके मुक्त करना चाहिये। तो फिर मालिकने उसका विश्वास करके बड़ी दूकान खुलवा दी। अर्थात् भगवान्‌के भावोंका संसारमें प्रचार करनेमें सम्मिलित करना लम्बी रकम लगाना है। और कहा कि भाई, तुम्हारी एक चौथाई भागीदारी रही। संसारमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्यका खूब प्रचार करो, तो वह प्रचार करने लगा। उस प्रचारसे उसका उद्धार हो गया। उसने कहा—यह हमारे लिये न्याययुक्त है। वह कम खर्चमें अपना निर्वाह कर लेता और जो बचता उसे भगवान्‌के कोषमें जमा कर देता। उसका नफेमें हिस्सा था घाटेमें नहीं था। जो आदमी परोपकारमें अपना जीवन निष्कामभावसे लगाता है उसे केवल नफा ही होता है, घाटा तो होता ही नहीं।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २।४०)

निष्कामकर्मका आरम्भ है, पर उसका कभी विनाश नहीं होता। उसमें उलटा पाप नहीं लगता, उसमें घाटा नहीं लगता। थोड़ा भी यदि निष्कामताका पालन हो जाय तो वह निष्काम-भाव उसको महान् भयसे तार देता है। तो उसकी पाँच हजार रुपयेकी पूर्ति जल्दी हो गयी। जो पचास वर्षमें होना था वह सालभरमें ही हो गया। छः महीने यदि डटकर साधन करे तो परमात्माकी प्राप्ति निश्चित है, जो पचास वर्षमें आजतक नहीं हुई। जिनकी पचास वर्षकी आयु हो गयी है और परमात्माकी प्राप्ति अभी नहीं हुई है, उनको छः महीनेमें परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जैसे अपने दाल-रोटी खाते आये हैं, वैसे ही खाते रहें, क्योंकि दाल-रोटी खाकर जो बचे वह महाजनके खजानेमें जमा करना है। घाटेका काम नहीं, हिस्सा नफेमें है। करना यह है कि भगवद्भावसे भरे हुए गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका भगवान्‌के भक्तोंमें प्रचार करना। व्याख्यानके द्वारा, पुस्तकोंके द्वारा भावोंका, भगवद्गुणोंका, उनके चरित्रोंका, उनके नाम-रूपका खूब प्रचार करना, इसी काममें अपना सारा समय बिताना और जिस समय कोई सुननेवाला न मिले, उस समय भगवान्‌के नामका जप-ध्यान करना, उनकी नवधा भक्तिमें अपना जीवन बिताना, एक मिनट भी व्यर्थ नहीं खोना। पाँच-छः घंटे सोनेमें और शौच, स्नान, भोजन आदिमें जो समय लगे वह तो लगेगा ही। नहीं तो आदमी जी कैसे सके। अतः जीवन चलानेके लिये ही खाना, पीना और सोना चाहिये। क्योंकि शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी कर्म करता हुआ मनुष्य कभी पापका भागी नहीं होता—

'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' ॥ (क्रमशः)

भगवद्दर्शनका आह्लाद

(महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी)

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।

(श्रीमद्भा० १०। ३२। १३)

(श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कहते हैं कि परीक्षित्!) 'भगवान् कृष्णके दर्शनोंसे गोपियोंके हृदयमें इतना आनन्द और इतने रसका उल्लास हुआ कि उनके हृदयकी सारी आधि-व्याधि मिट गयी। जैसे कर्मकाण्डकी श्रुतियाँ उसका वर्णन करते-करते अन्तमें ज्ञानकाण्डका प्रतिपादन करने लगती हैं और फिर वे समस्त मनोरथोंसे ऊपर उठकर कृतकृत्य हो जाती हैं, वैसे ही गोपियाँ भी भगवद्दर्शनसे पूर्णकाम हो गयीं।'

भगवद्दर्शनके लिये व्याकुलताके विषयमें परमभक्त वृत्रासुरकी व्याकुलता नीचे लिखे श्लोकद्वारा बतायी गयी है।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २६)

(भक्त वृत्रासुर भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहता है—) 'जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँके लौटनेकी प्रतीक्षा करते हैं तथा जैसे भूखसे पीड़ित बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिये आतुर होते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनोंके लिये अधीर हो रहा है।'

भगवद्दर्शनकी व्याकुलताके साथ यह दृढ़ विश्वास भी होना चाहिये कि मैं निश्चय ही भगवान्का दर्शन करूँगा, जैसा दृढ़ विश्वास अक्रूरजीको गोकुलकी यात्रापर जाते समय हुआ था। उस समय अक्रूरजी कहते हैं—

द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं
स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम्।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं
प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। ९)

'मैं अवश्य-अवश्य उन भगवान्के दर्शन करूँगा। मरकतमणिके समान सुस्निग्ध कान्तिमान् उनके कोमल कपोल हैं, तोतेकी ठोरके समान उनकी नुकीली नासिका है, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन है, कमल-से कोमल रतनारे लोचन और कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटक रही हैं। मैं प्रेम और मुक्तिके परम दानी श्रीमुकुन्दके उस मुख-कमलका आज अवश्य दर्शन करूँगा, क्योंकि मृगगण मेरी दाहिनी ओरसे निकल रहे हैं।' अक्रूरजी आगे कहते हैं—

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। १४)

उपर्युक्त श्लोकमें भगवच्चरणारविन्दोंमें प्रीति, भगवान्के माहात्म्यका वर्णन, भगवान्के रूप-माधुर्यका प्रभाव तथा भगवद्दर्शनका दृढ़ विश्वास सब एक साथ बताते हुए अक्रूरजी कहते हैं—'इसमें संदेह नहीं कि आज मैं अवश्य ही उनका दर्शन करूँगा। वे बड़े-बड़े संतों और लोकपालोंके एकमात्र आश्रय हैं, सबके परम गुरु हैं और उनका रूप-सौन्दर्य तीनों लोकोंके मनको मोहनेवाला है। जो नेत्रवाले हैं उनके लिये यह रूप-सौन्दर्य आनन्द और रसकी चरम सीमा है, इसी कारण स्वयं लक्ष्मीजी भी जो सौन्दर्यकी अधीश्वरी हैं, उन्हें पानेके लिये लालायित रहती हैं। हाँ, तो मैं उन्हें अवश्य देखूँगा, क्योंकि आज मेरा मङ्गल-प्रभात है। आज मुझे प्रातःकालसे ही अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं।'

इसी चिन्तनमें डूबे हुए अक्रूरजी सूर्यास्तके समय नन्दगाँव पहुँच गये, वहाँ क्या देखते हैं—

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।

रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥
देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
संदेशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २५—२७)

'जिनके चरण-कमलकी रजको सभी लोकपाल अपने किरीटोंद्वारा सेवन करते हैं। अक्रूरजीने गोष्ठमें उनके चरण-चिह्नोंके दर्शन किये। कमल, यव, अङ्कुश आदि असाधारण चिह्नोंके द्वारा उनकी पहचान हो रही थी और उनसे पृथिवीकी शोभा बढ़ रही थी। उन चरणचिह्नोंके दर्शन करते ही अक्रूरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सके और विह्वल हो गये। प्रेमके आवेगसे उनका रोम-रोम खिल उठा। नेत्रोंमें आँसू भर आये और आँखोंसे टपकने लगे। वे रथसे नीचे कूदकर उस धूलिमें लोटने लगे और कहने लगे—'अहो! ये हमारे प्रियतम प्रभुके चरणोंकी रज हैं।'

शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कंसके संदेशसे लेकर यहाँतक अक्रूरजीके चित्तकी जैसी दशा रही है, यही जीवोंके देह धारण करनेका परम लाभ है।

इसलिये जीवमात्रका यही परम कर्तव्य है कि दम्भ, भय और शोक त्यागकर भगवान्‌की मूर्ति (प्रतिमा-भक्त आदि) चिह्न, लीलास्थानके दर्शन तथा भगवद्गुणानुवादके श्रवणादि-द्वारा ऐसा ही भाव सम्पादन करे।

भगवच्चरणारविन्दमें स्थिर भक्तिभाव कैसे प्राप्त हो इसका उपाय भागवतकार बताते हैं कि—

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥

(श्रीमद्भा० १। २। १८)

श्रीमद्भागवतके निरन्तर स्वाध्यायसे तथा भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके साथ निरन्तर सत्संग करते रहनेसे अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके प्रति स्थायी प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है।

गम्भीर विचार करनेपर सम्पूर्ण विश्वमें एक ही तत्त्व सुस्थिर दिखलायी पड़ता है और वह तत्त्व नित्य ही सर्वव्यापक और सर्वत्र सत्तावान् है। विवर्तित होकर वही विश्वमें विभिन्न जड़-चेतन प्राणियोंके रूपमें परिणत दीखता है! इस संसारके सभी रूप महान् क्लेशदायक, क्षणिक, नश्वर और अशान्तिप्रद तथा उद्वेजक ही हैं। किसी भी अन्य उपायसे यह विश्व आनन्द या सुखरूपमें कभी परिवर्तित नहीं हो सकता।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (पा० यो० २। १५)

—और वह अनित्य भी है। सुखका अज्ञानजनित प्रलोभन अक्षय नरकोंका द्वार बतलाया गया है। जो अज्ञान-जनित लोभ, काम तथा तृष्णा और विषय-विषमताके कारण ही होता है, अतः तत्त्वज्ञ व्यक्ति उधर कभी प्रवृत्त नहीं होता।

इसलिये साधन, साध्य या सिद्धा—कोई भी भक्ति तत्त्वज्ञानपूर्वक ही शान्तिप्रद हो सकती है, भौतिक सुखका कोई प्रश्न नहीं। इसीलिये सर्वशास्त्रोंके सारांशभूत गीताशास्त्रमें इस विषय-सुखेच्छाको भक्तिका नितरां बाधक एवं व्यवसायात्मिका बुद्धिकी विरोधिनी कहा गया है, यथा—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

तथा—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र मे कथमभ्युदयो भवेत् ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थात् हृदयमें यदि भोग या मोक्षकी तनिक भी लालसा है तो यही समझना चाहिये कि न तो भक्ति-साधनाकी ओर उसकी लेशमात्र प्रवृत्ति हुई और न भक्तिभावका उदय ही हुआ है। इस रहस्यको जानकर जो निष्कामभावसे निरन्तर एकमात्र भगवच्चरणारविन्दको ही सर्वस्व मानकर उनकी अहर्निश ध्यान-धारणा-समाधि आदिद्वारा उपासना करता है, उसे ही भगवद्दर्शनका नित्य सौभाग्य प्राप्त होता रहता है तथा सच्चा अविनाशी आनन्द और आह्लाद भी प्राप्त होता रहता है।

'मुझे सुख कैसे मिले ?' केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्तव्यच्युत और पतित हो जाता है। अतः 'दूसरोंको सुख कैसे मिले' ऐसा भाव कर्मयोगीको सदा ही रखना चाहिये।'—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज

('संतानका कर्तव्य' पुस्तकसे)

मौन व्याख्यान

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

उपदेशकका पद वस्तुतः बहुत ही दायित्वपूर्ण है। अनुभवी पुरुष ही दूसरोंको उपदेश करनेका अधिकारी होता है। जबतक साधन करते-करते किसी विषयमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक उस विषयका उपदेशक बनना अपने और दूसरोंके साथ ठगी करना है और इसी कारण उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। खास करके पारमार्थिक विषयमें तो उपदेशक बनना बहुत ही कठिन है। उपदेशकमें निम्नलिखित पाँच बातें अवश्य ही होनी चाहिये—

(१) जिस विषयका उपदेश करे, उसका पारदर्शी हो। (२) जिस साधनाका उपदेश करे, उसको स्वयं करनेवाला हो। (३) उपदेशमें धन-मान-पूजा आदिकी प्राप्तिके रूपमें अपना किञ्चित् भी स्वार्थ न हो। (४) जिस विषयका उपदेश करे, वह विषय परिणाममें सबके लिये कल्याणकारक हो और (५) उपदेशमें किसी प्रकारका भी दम्भाचरण न हो।

जिस उपदेशकमें उपर्युक्त पाँचों बातें होती हैं, उसके उपदेशका बड़ा प्रभाव पड़ता है। यद्यपि आकर्षक भाषा, शब्द-सौन्दर्य एवं यथायोग्य भावोंका प्रदर्शन आदि साधन श्रोताओंके चित्तको खींचनेमें बहुत सहायक होते हैं तथापि ये सब व्याख्यान कलाकी चीजें हैं। कलाके साथ हृदयके परम शुद्ध और कल्याणकारक भावका संयोग हो, तभी उस कलासे विशेष लोकोपकार होता है। जो कला केवल कलाके लिये होती है अथवा जिस कलाके प्रदर्शनमें कुवासनाओंके उत्पादक और वर्द्धक दूषित भावोंका संयोग होता है, वह कला समाजके लिये कभी हितकर नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही विकसित और आकर्षक क्यों न हो। इसके विपरीत जिस अनुभव-पूर्ण वाणीमें सत्य-प्रेम, सरलता और निःस्वार्थ लोक-सेवाकी भावना होती है, वह कलाकी दृष्टिसे आकर्षक न होनेपर भी समाजके लिये अत्यन्त कल्याणकारिणी होती है। उपदेशकमें उपर्युक्त पाँच गुणोंके साथ वाग्मिताकी कला भी हो तो वह सोनेमें सुगन्धके समान है और ऐसा उपदेशक जगत्की बहुत सेवा कर सकता है; परंतु यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि जबतक मनुष्यके मनमें आत्मसुधारकी प्रबल आकाङ्क्षा नहीं है—और आत्म-संशोधन तथा आत्मोत्थानके लिये प्राणपणसे प्रयत्न नहीं किया जाता, तबतक उपदेशक बननेकी इच्छा करना या उपदेशक बनना विडम्बनामात्र है।

सच्ची बात तो यह है कि जिनमें उपदेश देनेके योग्य सद्गुण हैं, उनको भी उपदेशक बननेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये। जबतक ऐसी इच्छा है, तबतक कुछ-न-कुछ दुर्बलता मनमें छिपी है। महापुरुषोंके आचरण ही आदर्श सत्कर्म और उनके स्वाभाविक वचन ही उपदेश होते हैं। वे वस्तुतः न तो उपदेशक बनते हैं और न कहलाते हैं। उनकी करनी-कहनीसे अपने-आप ही जगत्को उपदेश मिलता है और इस सच्चे उपदेशका क्षेत्र आरम्भमें बहुत विस्तृत न होनेपर भी इसका जो कुछ प्रभाव होता है, वह बहुत ही ठोस, स्थायी और आगे चलकर बहुत ही व्यापक हो जाता है। उपदेश देनेकी तो इच्छा ही मनमें नहीं होनी चाहिये। अपने शरीर-मन-वाणीसे होनेवाली क्रियाओंमें भी यह भाव न रहे कि इन्हें देखकर लोग इनसे शिक्षा ग्रहण करें। ऐसी चेष्टा करे, जिसमें स्वाभाविक ही सब क्रियाएँ सत्यके आधारपर हों और निर्मल हों; निरन्तर इस बातको देखता रहे कि मेरे अंदर सत्त्वगुण बढ़ रहा है या नहीं। यदि सत्त्वगुण बढ़ गया तो रज और तम अपने-आप ही दब जायँगे। सत्त्वकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जिसके हृदयमें शुद्ध सत्त्वभाव है और जिसकी क्रियाओंमें सत्त्वगुणकी प्रबलता है, उसके द्वारा जो कुछ होता है, सभी लोक-कल्याणकारी होता है। वह जहाँ निवास करता है, वहाँका वातावरण शुद्ध होता है। वातावरणकी शुद्धिसे परमाणुओंमें शुद्धि आती है और वे परमाणु जहाँतक फैलते हैं, जिसके साथ जाते हैं, वहीं शुद्धि करते हैं।

उपदेशक बनना कोई पेशेकी चीज नहीं है। यह तो बहुत बड़े अधिकारकी बात है, जो वैसी योग्यता होनेपर ही प्राप्त होता है। जहाँ अयोग्य और अनधिकारी उपदेशक होते हैं, वहाँ प्रथम तो उपदेशका असर नहीं होता और जो कुछ होता है, वह प्रायः विपरीत होता है। उपदेशककी वाणीके साथ जब लोग उसके आचरणका मिलान करके देखते हैं और जब वाणी एवं आचरणमें परस्पर बहुत अन्तर पाते हैं, तब उनकी या तो उस वाणीपर श्रद्धा नष्ट हो जाती है, अथवा इससे उन्हें

यह शिक्षा मिलती है कि कहनेमें अच्छापन होना चाहिये, क्रिया चाहे उसके विपरीत ही हो। और ऐसी शिक्षाके ग्रहण हो जानेपर मनुष्यमें दम्भादि दोष सहज ही आ जाते हैं, जिनसे उसका पतन हो जाता है। व्यक्तियोंके भाव ही समाजमें फैलते हैं और यों समाजभरका पतन होने लगता है। समाजके इस पतनमें प्रधानतया अयोग्य उपदेशक ही कारण होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग स्वयं सुधरे हुए नहीं हैं, जिनमें स्वयं सद्गुण नहीं हैं, जो स्वयं किसी विषयके अनुभवी नहीं हैं, वे यदि उपदेशकका बाना धारणकर किसी स्वार्थसे या दम्भसे सुधारका और सद्गुणोंका उपदेश करते हैं अथवा बिना अनुभव किये विषयमें अपनी दक्षता प्रकट करते हैं तो समाजके प्रति अपराध करते हैं। अवश्य ही साधकोंका परस्पर हरिचर्चा करना, कथावाचकोंका कथा कहना, मित्र-मण्डलीमें सत्-चर्चा करना, स्कूलके अध्यापकोंका बच्चोंके प्रति उपदेश करना आदि इस अपराधमें नहीं गिने जा सकते, तथापि यहाँ भी इतनी बात तो है ही कि उपदेशके साथ आचरण होता तो उसका परिणाम कुछ विलक्षण ही होता।

पारमार्थिक गुरुका आसन तो बहुत ही जिम्मेवारीका पद है। इसमें तो मनुष्यके जीवनको लेकर खेलना है। अनुभवी गुरुओंके अभावसे ही शिष्योंका पतन होता है। गुरुओंमें जैसा आचरण होता है, शिष्य उसीका अनुसरण करते हैं। गुरु यदि विषयी होता है, कामी, क्रोधी या लोभी होता है, तो शिष्य भी वैसे ही बन जाते हैं, अतएव गुरुका पद स्वीकार करना तो खाँडेकी धारके समान है। जो विषयी गुरु अपने दुर्गुणोंका आदर्श सामने रखकर शिष्योंके पतनमें कारण होता है, उसकी दुर्गति नहीं होगी तो और किसकी होगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुभवी तत्त्वज्ञ गुरुकी कृपाके बिना भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता, और यह भी ध्रुव सत्य है कि ऐसे गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और साक्षात् परब्रह्म समझकर सतत प्रणाम और आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

आचार्य—गुरुको मेरा ही स्वरूप समझे, मनुष्य समझकर अवज्ञा या असूया [दोषदृष्टि] न करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।

परंतु यह बात उन्हीं गुरुओंपर लागू होती है, जो शिष्यके अज्ञानका नाश करनेके लिये भगवत्सेवाके भावसे ही गुरुपदको स्वीकार करते हैं, जो गुरु बनकर भी परम ज्ञान-दानके द्वारा भगवत्स्वरूप शिष्यकी सेवा ही करना चाहते हैं, ऐसे गुरु ही शिष्यका भव-बन्धन काटनेमें समर्थ होते हैं। जो अपने शरीरकी सेवा कराना चाहते हैं, शिष्यके धनसे अपने लिये विलास-सामग्रीका संग्रह करनेकी इच्छा रखते हैं, एवं मान और पूजाके लिये ही गुरुका पद ग्रहण करते हैं, उन गुरुओंसे भव-बन्धनका छेदन नहीं हो सकता और न उनके लिये ये शब्द ही हैं।

शिष्यकी श्रद्धाके प्रतापसे कहीं-कहीं अयोग्य गुरुसे भी लाभ हो जाता है, परंतु इसमें शिष्यकी श्रद्धा ही कारण होती है, जिसके कारण वह उस लाभमें अपनी श्रद्धाको कारण न समझकर गुरु-कृपाको ही कारण मानता है। परंतु गुरु बननेवालेको ऐसे अवसरोंपर सावधान रहना चाहिये, और शिष्यकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा करके अपनेको ठगना नहीं चाहिये।

सच्चे गुरुओंको विशेष उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती, उनके आचरणसे ही शिक्षा मिल जाती है। यहाँतक कि उनके कृपालु हृदयमें शिष्यकी स्मृति हो जानेमात्रसे अथवा उनकी कृपामयी मूर्तिके दर्शनमात्रसे ही कल्याण हो जाता है। इसीलिये सत्-शिष्य, साधक **'गुरुकृपा हि केवलम्'** मानते हैं। ऐसे गुरुओंकी अज्ञात कृपासे चुपचाप शिष्यके हृदयमें शक्ति-संचार होकर उस शक्तिके प्रतापसे शिष्यका समस्त संशय नष्ट हो जाता है। यों अदृश्यरूपमें गुरु-शक्तिकी क्रिया चलती रहती है। यद्यपि गुरुकृत मौखिक उपदेशकी सार्थकता है, और साधारणतया उसकी आवश्यकता भी बहुत है, तथापि यह याद रखना चाहिये कि वाणीकी अपेक्षा संकल्पकी शक्ति कहीं अधिक है। और एक बात यह भी है कि कुछ बहुत ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महान् पुरुषोंको छोड़कर अन्य लोगोंकी, जो वाणीका बहुत अधिक प्रयोग करते हैं, पवित्र संकल्प-शक्तिका ह्रास भी हो जाता है। इसीलिये बहुत-से सत्पुरुष यथासाध्य बहुत ही कम बोला करते हैं [यद्यपि यह नियम नहीं है] ऐसे संकल्प-शक्ति-सम्पन्न महात्मा यदि चाहें

तो मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर केवल अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे, आभ्यन्तरिक स्वाभाविकी शुभ भावनासे अथवा संकल्प-शक्तिके प्रभावसे शिष्यका अशेष कल्याण कर सकते हैं। और यह जाना गया है कि ऐसे महापुरुषगण शिष्यकी मानसिक स्थिति देखकर, उसकी धारणाके योग्य पात्रताका अनुभवकर धीरे-धीरे चुपचाप उसमें यथायोग्य शक्ति-संचार करते हुए उसकी मानसिक स्थिति और धारणाभूमिको क्रमशः उच्चसे उच्चतर अवस्थामें पहुँचाते रहते हैं और जब देखते हैं कि यह शक्तिको पूर्णतया धारण करनेयोग्य हो गया, तब उसमें शक्तिका पूरा संचार करके क्षणमात्रमें ही दिव्य प्रकाशकी ज्योतिसे उसका अनादिकालीन अज्ञानान्धकार हर लेते हैं। यों बिना ही उपदेशके उसका जीवन धन्य और कृतकृत्य हो जाता है।

इसीसे यह कहा गया है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः संछिन्नसंशयाः॥

'क्या ही आश्चर्य है, पवित्र वटवृक्षके नीचे वृद्ध शिष्य और युवा गुरु विराजमान हैं। गुरुका मौन व्याख्यान हो रहा है और उसीसे शिष्योंका संशय कट गया है।'

वस्तुतः आत्माराम महापुरुषमें आत्माकी दृष्टिसे बाल, युवा या वृद्ध—किसी अवस्थाका होना सम्भव नहीं। आत्मा नित्य ही युवा है, क्योंकि वह एकरस है। ऐसे गुरुके समीप आनेवाले अनादिकालसे प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए जीवरूप शिष्योंका अत्यन्त वृद्ध होना भी उचित है। परंतु जो ऐसे गुरुके सामने आ गया और जिसको ऐसे गुरुने शिष्य स्वीकार कर लिया, उसके अज्ञानका नाश हो ही गया समझना चाहिये, क्योंकि ऐसे महापुरुषोंका किसीको स्वीकार कर लेना निश्चय ही अमोघ होता है।

परंतु आजके जमानेमें, जहाँ गली-गली उपदेशक और गुरु मिलते हैं, ऐसे सद्‌गुरु महात्माओंका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। ऐसे महात्मा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं। अतएव जिनको इस प्रकारके महात्माओंके दर्शन और गुरुरूपसे वरण करनेकी प्रबल इच्छा हो, उन्हें भगवान्‌के सामने कातरभावसे रोना चाहिये। भगवान्‌की कृपा होनेपर उनकी प्रेरणासे ऐसे महात्मा आप ही आकर मिल जायँगे, अथवा स्वयं भगवान् ही ऐसे गुरुरूपसे प्रकट होकर शिष्यका उद्धार कर देंगे।

शाकाहारका आध्यात्मिक महत्त्व

(प्रो॰ श्रीरणजीतजी त्रिपाठी)

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥

तात्पर्य यह है कि शाक-फल-कन्दका आहार हो तो सच्चिदानन्द-ब्रह्मके चिन्तनमें सहज प्रवृत्ति सम्भव है। वैसे तो भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति-मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु), पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परंतु उनसे उन्हें संतोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्य-शरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए[१]।

उस परम दयालु प्रभुने नर-कलेवर बनानेके पूर्व, उसके जीवन-रक्षार्थ शाक-वर्गकी सृष्टि की। परमेश्वरने मनुष्यके दाँत एवं आँतोंको शाक-अन्नादि भक्षणके अनुकूल बनाया। अखिलेश्वरके इस त्रिगुणात्मक सृष्टि-प्रपञ्चमें आमानव—पशु-पक्षी आदि सभीके भोजनादि भी त्रिविध ही हैं। उनके शरीरकी संरचनाके अनुकूल ही उनके भोज्य पदार्थोंका विधान भी नैसर्गिक है। मांसाहारी पशु-पक्षियोंके दाँत नुकीले एवं आँतें छोटी होती हैं। फलतः वे अपने आहारको नोच-नोचकर खाते हैं तथा उनकी आँतें पचे हुए मांसादिको बाहर निःसृत करनेमें समर्थ होती हैं। परंतु मनुष्यकी छोटी एवं बड़ी दोनों आँतोंकी लंबाई क्रमशः २८ एवं १२ फुट होती है। अतः पचे हुए मलादिके निःसरणमें—खासकर पचे मांसादिके निःसरणमें कठिनाई होती है, जिससे भोक्ताको विविध व्याधियोंका सामना करना पड़ता है।

भारतीय चिन्तनमें भोजनका केवल भौतिक महत्त्व न

१-सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ (श्रीमद्भा॰ ११।९।२८)

होकर आधिदैविक एवं आध्यात्मिक महत्त्व भी मान्य है। ऋषियोंने एक ही अग्निके व्यावहारिक भेदके कारण तीन संज्ञाएँ दी हैं—वडवाग्नि, दावाग्नि एवं जठराग्नि। अतः जैसे यज्ञाग्निमें सविधि हवन करनेपर देवताओंको तुष्टि एवं पुष्टि प्राप्त होती है, वैसे ही विधिवत् जठराग्निमें अन्नरूपी हव्य-द्रव्यका हवन करनेपर शरीरके अधिष्ठातृ देवता आत्माको पुष्टि एवं तुष्टि प्राप्त होती है। इसीलिये शास्त्रोंमें भोज्य पदार्थको आचमनादिपूर्वक भगवान्‌को समर्पितकर भोजन करनेका विधान है[1]। वस्तुतः भोजन शरीरके पोषणके साथ-ही-साथ आत्माकी तृप्तिके लिये किया जाता है। जैसे यज्ञाग्निमें हुत हव्य-द्रव्यके सूक्ष्मांशसे देवादिकोंको तुष्टि-पुष्टि होती है एवं स्थूलांशसे समयपर अनुकूल वृष्टि करनेवाले 'मेघ'का कलेवर बनता है, वैसे ही अन्नादिके सूक्ष्मांशसे शरीरको चैतन्य प्रदान करनेवाली आत्मा तृप्त होती है तथा मनका सम्यक् पोषण होता है एवं स्थूलांशसे रस-रक्त-मांस-मेदा-अस्थि-मज्जा तथा शुक्रका निर्माण होता है। अति स्थूलांश मल-रूपमें बाहर निःसृत हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें सात्त्विक आहारका लक्षण बतलाते हुए कहा है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

राजसी प्रकृतिवाले चर्परादि भोज्य द्रव्यका सेवन करते हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

(१७।९)

अर्थात् 'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता एवं रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।'

परंतु तामसी प्रकृतिवालोंको निकृष्ट भोजन प्रिय होते हैं—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७।१०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

आहारका दूरगामी, ऐहलौकिक-पारलौकिक प्रभाव पड़ता है। सात्त्विक प्रकृतिवाले व्यक्तिको उत्कृष्ट स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। रजोगुणी मर्त्यलोकमें मनुष्यादि-योनिमें आते हैं। परंतु तमोगुणी प्रकृतिवाले अधोगति—नरकादिमें जाते हैं तथा कूकर-शूकरादि योनियोंमें जन्म लेनेके लिये विवश होते हैं। उपर्युक्त बातोंसे स्पष्ट है कि भोजन प्रकृतिको प्रभावित करता है तथा प्रकृतिके अनुरूप भोजन प्रिय होता है। यदि कोई रजोगुणी, तमोगुणी व्यक्ति संयमपूर्वक कुछ दिनोंतक सात्त्विक भोजनका सेवन करे तो वह सात्त्विक प्रकृतिवाला बन सकता है। ऐसे ही परस्पर विपरीत भावोंको समझ लेना चाहिये।

मांसाहार तो स्पष्ट राक्षसी भोजन है। मांसाहारियोंको घोर रौरवादि नरकोंमें जाना पड़ता है। ऐसा वर्णन प्रायः सभी पुराणों तथा धर्मशास्त्रोंमें प्राप्त होता है, लेकिन विस्तार-भयसे उन्हें न देकर केवल मनुस्मृतिके कुछ वचन दिये जा रहे हैं—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥

(११।९५)

अर्थात् 'मद्य, मांस, मदिरा और आसव—ये यक्ष-राक्षस और पिशाचोंके खाद्यान्न हैं। इसलिये देवताओंके प्रसादस्वरूप हविष्यको खानेवाले ब्राह्मणको इन्हें नहीं खाना चाहिये।' ब्राह्मणके व्याजसे सभी शाकाहारियोंका वर्णन किया गया है।

जीवोंकी हिंसा बिना किये मांस कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। पशुओंका वध स्वर्गप्राप्त्यर्थ नहीं होता, इसलिये मांस

१-ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा।

खाना छोड़ देना चाहिये[१]। मांसकी उत्पत्ति और जीवोंके वध-बन्धनको अच्छी तरह सोचकर सब प्रकारके मांस-भक्षणको त्याग देना चाहिये[२]। मारनेकी आज्ञा देनेवाला, उसके खण्ड-खण्ड करनेवाला, मारनेवाला, बेचने और मोल लेनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये आठों घातक है[३]। जो देवता और पितरोंका पूजन किये बिना दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं है[४]। अतः महर्षि मनु महाराज मांस नहीं खानेका पुण्य-लाभ बताते हुए कहते हैं—'जो सौ वर्षतक प्रत्येक वर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो बिलकुल ही मांस नहीं खाता, इन दोनोंका पुण्य-फल बराबर है[५]। फल, मूल और मुनियोंके हविष्यान्न खानेसे वह फल नहीं मिलता जो केवल मांस छोड़ देनेसे मिलता है[६]। यहाँ मैं जिसका मांस खाता हूँ, परलोकमें वह मुझे भी खायेगा। यही मांसका मांसत्व है, ऐसा पण्डितोंका कहना है[७]।

भगवान् बुद्ध तथा भगवान् महावीर वर्द्धमानके उपदेशोंमें अहिंसाकी प्रधानता है। दोनों महात्माओंने अपने उपदेशोंमें अहिंसा-व्रतपर विशेष बल दिया है। अन्ततः अहिंसा-व्रतका पालन शाकाहारसे ही सम्भव है, क्योंकि शाकाहारकी निन्दा कहीं भी देखी-सुनी नहीं जाती। यह वेद-शास्त्रादिद्वारा भी अनुमोदित है। साधक भी शाकाहारका ही सेवन करते हैं।

अहिंसा-व्रतकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस अहिंसक व्यक्तिके निकट सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है[८]। भगवान् बुद्ध एवं महावीर वर्द्धमानके जीवनमें आये कतिपय प्रसंगोंमें हिंसक प्राणियोंके अनुकूल आचरणका वर्णन मिलता है। भगवान् बुद्धके सामने भयंकर सर्प नतमस्तक हो जाते थे एवं मतवाले हाथी फल तोड़कर लाते थे।

मांसाहारीके प्रायः सभी धर्मकार्य भी क्रूर एवं अपवित्र होते हैं। यदि कदाचित् वे कभी व्रतादिका पालन भी करें तो वह वैसा ही माना जायगा जैसे कोई परम पावन गङ्गाजलमें स्नान कर दूषित नालीका जल अपने ऊपर ढार ले या उसका पान कर ले। अतः उनसे न तो कोई देवता प्रसन्न होते हैं और न पितृगण ही, न उनसे सदाचरण ही हो पाता है, न उनमें दया ही रहती है।

शास्त्रोंमें दयाको धर्मका मूल कहा गया है। गोस्वामीजी दयासे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं मानते—***'धर्म कि दया सरिस हरिजाना'*** (रा०च०मा० उ० १११ (ख)। १०)। परम धर्म-अहिंसाके मूलमें एकमात्र दया ही है। परंतु क्रूर मांसाहारियोंके हृदयमें दयाका आत्यन्तिक अभाव होता है। दूसरेके प्रिय शरीरका मांस खाना कितना बड़ा अधर्म है? एक चींटी भी मरना नहीं चाहती। उसके आगे भी अँगुली रखनेपर वह मुड़ जाती है। वर्षा आदि होनेपर वह प्राण-रक्षाके लिये भागती है। फिर जिन प्राणियोंमें मन-प्राण विकसित हैं, ऐसे बकरा, गौ, महिष, ऊँट आदि पशुओं तथा मुरगा, बटेर, बतख, कबूतर आदि पक्षियोंके मनमें वधसे पूर्व कितना आतङ्क होता होगा! वध-स्थलपर ले जाते समय वे कितना आतङ्कित होते होंगे! वे कितना छटपटाते होंगे! उन्हें कितना कष्टका अनुभव होता होगा! इसकी कल्पना एकमात्र दयालु व्यक्ति ही कर सकता है। क्रूर मांसाहारी तो वध-स्थलपर पशुओंके प्रिय शरीरका मांस खरीदनेके लिये लालायित रहते हैं। उनकी जिह्वासे पानी टपकता रहता है। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि काम, क्रोध, लोभ आदि मांसाहारियोंमें ही अत्यधिक होते हैं।

बहुतसे लोग अग्निमें अन्तर नहीं मानते हैं। तात्त्विक

१-नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ (मनु० ५। ४८)
२-समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ (मनु० ५। ४९)
३-अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ (मनु० ५। ५१)
४-स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति। अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत्॥ (मनु० ५। ५२)
५-वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥ (मनु० ५। ५३)
६-फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः। न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्॥ (मनु० ५। ५४)
७-मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ (मनु० ५। ५५)
८-'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।' (पा०यो० साधनपाद ३५)

अन्तर नहीं होनेपर भी व्यावहारिक भेद तो हो ही जाता है। यज्ञाग्नि एवं चिताग्निमें अन्तर स्पष्ट है। चिताग्निको कोई भी सद्‌गृहस्थ अपने घरमें नहीं लाना चाहता, क्योंकि वह शवको जलाती है। अतः उसकी संज्ञा 'क्रव्याद' होती है। लेकिन जब मांसाहारीके भोजनालयमें ही 'क्रव्याद' विद्यमान हो तो कौन सदाचारी शाकाहारी उनके चूल्हेपरकी बनी हुई रसोई खाना चाहेगा। ऐसे लोगोंके 'ड्राइंग रूम' में बैठनेपर भी 'घ्राणभुक्त' दोष लग सकता है। घ्राणेन्द्रियद्वारा भी सुगंध-दुर्गन्धका भोग माना जाता है।

अब जरा मांसकी खाद्यता-अखाद्यतापर लौकिक दृष्टिसे भी विचार कर लें। मांस, रस-रक्त-क्रमसे बना हुआ तृतीय धातु है। दो दिन भी पड़ा रहनेपर वह दुर्गन्धसे पूर्ण हो जाता है। नाक फटने लगती है। घरमें बक्सेके पीछे मरा चूहा भी जब अपनी दुर्गन्धसे बेचैन कर सकता है तो बकरे, भेड़ तथा अन्य पशु-पक्षियोंके मांसकी दुर्गन्धके सम्बन्धमें क्या कहना? प्रातःकालमें अपने दाँतकी दुर्गन्ध भी अप्रिय लगती है, अपना ही पका हुआ मवादपूर्ण घाव जब दुर्गन्धसे युक्त हो जाता है तो दूसरेके प्रिय शरीरका मांस क्या मलयागिरिके चन्दनकी सुगन्ध प्रदान करेगा? फिर मांस-भक्षणमें आसक्तिका विषय क्या है? वही मसाले, वही तेल जो रसनेन्द्रियको मोहित कर भक्षकको मूढ़ बना देते हैं। वे जिह्वाको क्षणिक सुख प्रदान कर लोक-परलोक नष्ट करते हैं। आज पेटके अल्सर, कैंसर, अपेंडिसाइडिस तथा राजयक्ष्मा, रक्त-पित्तादिके अधिकांश रोगी मांसाहारी ही देखे जाते हैं। अब इस दुष्परिणामको देख-सुनकर मांसाहारी राष्ट्रों—अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, फ्रांस आदिके मनीषी चिन्तकोंने भी मांसाहारको अनेक रोगोंका कारण सिद्ध किया है। सभी जानते हैं कि रोगोंका मूल कारण पाप है तथा मांसाहार पापका प्रधान कारण है, इसलिये ये रोग मांसाहारियोंको न पकड़ें तो किसे पकड़ेंगे? अतः उक्त राष्ट्रोंके लोग उत्तरोत्तर शाकाहारकी ओर उन्मुख हो रहे हैं।

मांसाहारीकी प्रधान रक्तवाहिनी धमनियोंमें 'कोलेस्ट्राल' विशेष जमा होता है, जो हृदय-सम्बन्धी व्याधियों (हार्टअटैक आदि) का कारण बनता है। रक्त एवं त्वचा-सम्बन्धी रोग तो विशेषकर मांसाहारियोंमें ही देखे जाते हैं। गो-मांस खानेसे कुष्ठ-रोग हो[illegible]

शाकाहारके सद्‌गुणोंके सम्बन्धमें जितना भी कहा जाय, थोड़ा ही होगा। अब तो विश्वके प्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक एवं डॉक्टर भी शाकाहारके महत्त्वको स्वीकार कर रहे हैं। फलतः उन राष्ट्रोंके हजारों लोग शाकाहारी बन चुके हैं एवं दिनानुदिन इस ओर अभिमुख हो रहे हैं।

लोकमें शाकाहारियों एवं मांसाहारियोंमें एक और विचित्र अन्तर दिखायी पड़ता है। चाहे शाकाहारी मनुष्य हो या पशु-पक्षी, किसीमें भी आक्रामक भावना नहीं देखी जाती। कोई भी शाकाहारी यथासम्भव किसीका पहले अनिष्ट करना नहीं चाहता। आत्मरक्षार्थ भले ही वह अन्तमें डट जाय। शाकाहारियोंका मुखमण्डल शान्त होता है, परंतु मांसाहारियोंका चेहरा डरावना-सा लगता है। कसाइयोंके चेहरे भयावने लगते हैं। पशुओंकी हत्याके समय बार-बार नेत्रोंको विस्फारित करनेके कारण उनके नेत्रोंमें स्पष्ट हिंसा झलकती है। उनका चिबुक भी डरावना लगता है। वे अकारण आक्रमण कर ही देते हैं। इस मौलिक अन्तरको कोई भी नहीं मिटा सकता। इस अन्तरका बना रहना भी सम्भव है कि शाकाहारीकी संतान शाकाहारी हो एवं मांसाहारीकी संतान मांसाहारी। पारिवारिक तथा सामाजिक परिवेशका भी प्रभाव पड़ता ही है। अतः आज सुसंस्कृत शाकाहारी परिवारके बच्चे भी मांस-भक्षणकी ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। अंडा खाना तो आम बात हो गयी है। इससे बचनेकी नितान्त आवश्यकता है।

पहले द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का यज्ञोपवीत होनेपर आचार्य ब्रह्मचारीको मद्य-मांस-सेवन करनेसे प्रारम्भमें ही मना कर देते थे। मनुस्मृतिकार कहते हैं—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

(२। १७७)

यदि अभक्ष्य-भक्षणमें जीवनी-शक्ति (विटामिन) को स्वीकार किया जाय तो विष्ठाभोजी ग्राम-शूकर, वन्यशूकर क्या कम हृष्ट-पुष्ट होता है? उसके हृष्ट-पुष्ट होनेसे विष्ठा खाद्य नहीं हो सकती। अतः केवल जीवनी-शक्ति (विटामिन) के नामपर मांस-मछली, अंडा, मुरगा खानेका विधान मान्य नहीं हो सकता। हृष्ट-पुष्ट शरीर तो असुरों-दैत्योंके भी होते थे; [illegible] पुष्टताके

साथ ही बुद्धिकी विमलता भी चाहिये, जो एकमात्र शाकाहारसे ही सम्भव है। यदि दूध, फल, सब्जी एवं सुअन्नके सेवनसे ही अनुकूल स्वास्थ्य-लाभ होता है तो फिर अभक्ष्य-भक्षणकी उपादेयता क्यों स्वीकार की जाय? अकेले दूधमें ही सब प्रकारके विटामिन विद्यमान हैं।

मांसाहारका एक दूसरा भी दुष्परिणाम दिखायी पड़ता है। मांसाहारियोंके शरीरसे दुर्गन्ध निकलती रहती है। उनकी त्वचासे, उनके पसीनेसे निकलती दुर्गन्ध कोई छिपी हुई चीज नहीं है। कोई समीप जाकर देखे। अपान वायु (अधोवायु) मलका संस्पर्श कर बाहर निकलती है, परंतु जिसके मलमें जितनी अधिक दुर्गन्ध होगी, उसके द्वारा परित्यक्त अपान वायु भी उतनी ही अधिक दुर्गन्धपूर्ण होगी। तृणभोजी पशुओंके मलमें स्वल्प दुर्गन्ध होती है। गोमय (गोबर) तो घर-आँगन लीपनेके काममें आता है। भारतीय संस्कृतिमें उसे परम पवित्र माना जाता है। गोमयका पूजन एवं प्रायश्चित्तके लिये पञ्चगव्यमें गोमयका विधान है।

मनुष्य अन्नका सार-भाग खाता है। अतः शरीर-संरचनामें अन्तर होनेसे थोड़ी गन्ध आ जाती है। परंतु मांसाहारी पशुओं—व्याघ्र, कुत्ता, स्यार, बिल्ली आदिके मलकी दुर्गन्धके सम्बन्धमें कहनेकी आवश्यकता नहीं है। योगीके योगसिद्ध होनेपर तो उसके मल-मूत्रमें सुगन्धकी चर्चा शास्त्रोंमें मिलती ही है। श्रीमद्भागवत महापुराणमें परम भागवत श्रीऋषभदेवजीका पावन चरित्र आया है। उनके सम्बन्धमें वर्णन मिलता है कि उनके मल-मूत्रसे कई योजनतक दिव्य चन्दन-सी सुगन्ध आती थी।

संसारके सम्पूर्ण प्राणी जीना चाहते हैं। अतः किसीका भी अधिकार नहीं है कि वह भगवान्‌की इस परम सुन्दर सृष्टिमें प्राणियोंकी, जीवन जीनेकी उत्कट अभिलाषामें बाधा डाले। इसीलिये भगवान् मनुकी मनुस्मृति तथा अन्य सच्छास्त्रोंमें प्राणियोंके वध करनेपर प्रायश्चित्तका विधान है तथा प्रायश्चित्त न करनेपर फिर वह प्राणी दूसरे जन्ममें वधिकको मार डालता है, इस सम्बन्धमें सदन कसाईकी कथा प्रसिद्ध है, जिसकी ३० जन्मोंतक एक बकरेके साथ काटा-काटी चलती रही। शास्त्रोंमें पौधों, लताओं एवं वृक्षोंके काटनेका भी प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है। सदुपयोगमें लानेके लिये वृक्ष-लताओंको काटनेपर स्वल्प प्रायश्चित्त करने तथा उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापनका विधान है, क्योंकि वह अपरिहार्य है। हाँ, निष्प्रयोजन एक तृण भी तोड़ना अपराध है।

मांसाहारका वर्जन करते हुए महाभारतकार भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं कि यज्ञमें कहीं भी पशुबलिका विधान नहीं है। असुरोंने अपनी जिह्वाके स्वादके लिये पशुबलिका विधान कर दिया है। इस दुष्प्रवृत्तिका प्रतिवाद भगवान् गौतम बुद्ध एवं भगवान् महावीर वर्द्धमानने किया है। परंतु आज भोजनरूपी यज्ञमें मांसाहारका वर्जन नहीं हो पा रहा है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने देवताओंको अर्पित किये बिना भोजन करनेवालेको चोर कहा है[1]। अर्थात् भगवान् एवं इष्ट देवताको अर्पित कर ही भोजन करना चाहिये। इस कसौटीपर मांसाहार कैसे कसा जा सकता है? देवता कैसे इसे स्वीकार करेंगे। जठराग्नि कैसे इसे अच्छे हव्यके रूपमें स्वीकार करेगी। अग्निमें तो दिव्यान्नके ही हवनका विधान है। अतः प्रत्येक प्राणीके पेटके भीतरकी आग—जठराग्निके लिये शाकाहार सर्वश्रेष्ठ हव्य द्रव्य है। यह शास्त्रसम्मत है। संतोंने इस दिव्य भोजनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इस तरह विचार करनेपर स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण दृष्टिसे शाकाहार ही परम उत्कृष्ट एवं कल्याणप्रद है। अतः हमें शाकाहारका व्रत लेना चाहिये। अहिंसाव्रतकी सिद्धि एकमात्र इसीसे सम्भव है।

सर्वदा विचारपरायण होओ। सुख आये या दुःख आये, सदा स्थायी कोई-सा भी नहीं है। इसको स्थिरभावसे विचार कर देखो। सुख या दुःख किसीको भी अविचारपूर्वक ग्रहण न करो। किसी प्रकार भी मोहित मत होओ।

वास्तवमें शरीरका नष्ट हो जाना मृत्यु नहीं है। पाप-वासना ही यथार्थ मृत्यु है। इस पाप-वासनासे ही मनुष्य सर्वदा जर्जरित होकर निरन्तर दुःख भोगा करता है। मृत्यु इसकी अपेक्षा कभी अधिक कष्टकर नहीं है।

१-इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥ (गीता ३।१२)

साधकोंके प्रति—

साधकका कर्तव्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

साधकका मुख्य कर्तव्य है—साधनविरुद्ध कार्य न करना अर्थात् जो कार्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हो, उसका त्याग करना। साधनविरुद्ध कार्यका त्याग करनेपर साधन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है। स्वतः होनेवाले साधनमें कर्तृत्वाभिमान (करनेका अभिमान) नहीं आता। वास्तवमें साधन स्वतःसिद्ध है। साधनविरुद्ध कार्य तो हमने पकड़ा है। जैसे, बालक स्वतः सत्य बोलता है, पर जब वह झूठको स्वीकार कर लेता है अर्थात् झूठ बोलना सीख जाता है, तब उसको सत्य बोलनेके लिये उद्योग करना पड़ता है। उद्योगसे किये गये साधनसे कर्तृत्वाभिमान पैदा होता है। तात्पर्य है कि जैसे साध्य (परमात्मा) अविनाशी है, ऐसे ही साधन भी अविनाशी है[१]। परंतु जब साधक साधनको अविनाशी न मानकर कृतसाध्य (अपने उद्योगसे किया गया) मान लेता है, तब उसमें कर्तृत्वाभिमान आ जाता है।

जो अपना नहीं है, प्रत्युत मिला हुआ है और बिछुड़ जायगा, उसको अपना मानना और जो अनादिकालसे स्वतः अपना है, उसको अपना न मानना साधनविरुद्ध कार्य है। अतः साधनविरुद्ध कार्यके त्यागका तात्पर्य है—जो मिला है, उसको अपना नहीं मानना। कारण कि जो मिला है, वह बिछुड़ेगा—यह नियम है। इसलिये मिले हुएको अपना न मानकर, प्रत्युत संसारका ही मानकर उसका सदुपयोग करना है।

साधकको जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि मिली है, उसका सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग करनेका तात्पर्य है—प्राप्त वस्तु आदिको अपनी न मानकर, प्रत्युत अभावग्रस्तोंकी ही मानकर निःस्वार्थभावसे उनकी सेवामें लगा देना। यह '**कर्मयोग**' है।

साधकको अपनी जानकारीका आदर करना चाहिये, उसको महत्त्व देना चाहिये। अपनी जानकारीको महत्त्व देनेका तात्पर्य है—अपने विवेकसे जैसा जाना है, वैसा मान लेना और वैसा ही आचरण करना। जैसे किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके साथ हमारा सम्बन्ध था नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं और वर्तमानमें भी उससे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है—इस प्रकार साधक अपनेको असंग स्वीकार करे। यह '**ज्ञानयोग**' है।

साधकको एकमात्र भगवान्‌पर ही विश्वास करना चाहिये। विश्वास करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌के सिवाय दूसरी चीजको भूलकर भी अपना न मानना और उसपर विश्वास, भरोसा न करना[२]। यह '**भक्तियोग**' है।

मिली हुई वस्तु आदिका सदुपयोग करनेकी अपेक्षा उसका दुरुपयोग न करना श्रेष्ठ है[३]। अपनी जानकारीका आदर करनेकी अपेक्षा उसका अनादर न करना श्रेष्ठ है। भगवान्‌पर विश्वास करनेकी अपेक्षा संसारपर विश्वास न करना श्रेष्ठ है। कारण यह है कि विधिकी अपेक्षा निषेध श्रेष्ठ और बलवान् होता है। विधि सीमित होती है और निषेध (त्याग) असीम होता है। विधिमें कमी रह सकती है और अभिमान भी आ सकता है, पर निषेधमें कोई कमी नहीं रहती और अभिमान भी नहीं आता। जैसे, सत्य बोलनेवाला कभी झूठ भी बोल सकता है और उसको 'मैं सत्य बोलनेवाला हूँ' ऐसा अभिमान भी आ सकता है; परंतु झूठ न बोलनेवाला सावधान साधक जब भी बोलेगा, सत्य ही बोलेगा अथवा चुप रहेगा और उसको सत्य बोलनेका अभिमान भी नहीं आयेगा[४]।

अगर साधक प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिका दुरुपयोग न करे तो '**कर्मयोग**' सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ करना बाकी

१-'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।' (गीता ४। १)

'इस अविनाशी योगको मैंने सूर्यसे कहा था।'—यहाँ भगवान्‌ने योग (साधन) को अविनाशी कहा है।

२-एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥ (दोहावली २७७)

३-मिली हुई वस्तुको अपनी मानना तथा उसको अपने सुखभोगमें लगाना उसका दुरुपयोग है।

४-इस [illegible]

नहीं रहेगा। अगर वह अपनी जानकारीका अनादर न करे तो '**ज्ञानयोग**' सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ जानना बाकी नहीं रहेगा। अगर वह संसारपर विश्वास न करे तो '**भक्तियोग**' सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ पाना बाकी नहीं रहेगा। साधकसे भूल यही होती है कि वह प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिका सदुपयोग न करके अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिकी इच्छा करता है, अपनी जानकारीको महत्त्व न देकर नाशवान्को महत्त्व देता है और भगवान्पर विश्वास न करके संसारपर विश्वास करता है। इस भूलके कारण उसका करना, जानना और पाना बाकी रहता है अर्थात् उसको पूर्णताकी प्राप्ति नहीं होती।

अगर साधक प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग न करे तो उसमें अपनी जानकारीका आदर करनेकी योग्यता आ जाती है तथा अपनी जानकारीका आदर करनेसे भगवान्पर विश्वास करनेकी योग्यता आ जाती है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंमेंसे किसी भी एक साधनकी सिद्धि होनेपर शेष दोनों साधनोंकी सिद्धि स्वतः हो जाती है। परंतु साधकमें अपने साधनका आग्रह और अभिमान रहेगा तो ऐसा होनेमें कठिनता है ! हाँ, यदि साधक अपना आग्रह और अभिमान न रखे तो सच्ची बात स्वतः प्रकट हो जायगी।

साधकको इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये कि उसके द्वारा कोई साधनविरुद्ध काम न हो। साधनविरुद्ध काम न करनेसे साधककी स्वतः उन्नति होती है और साधनविरुद्ध काम करनेसे साधकका स्वतः पतन होता है। तात्पर्य है कि मनुष्यमें क्रियाका एक वेग रहता है। यदि उसके द्वारा उन्नतिकी क्रिया नहीं होगी तो फिर पतनकी क्रिया होगी। कारण कि स्थिर न रहना, प्रतिक्षण बदलना संसारका स्वभाव है। अतः साधक या तो उन्नतिमें जायगा या पतनमें जायगा। इसलिये साधक किसी भी जाति, वर्ण, आश्रम, मत, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसको साधनविरुद्ध कार्यका त्याग करना ही पड़ेगा * अर्थात् प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग, अपनी जानकारीका अनादर और संसारपर विश्वास—इन तीनोंका त्याग करना ही पड़ेगा। साधनविरुद्ध कार्यके त्यागमें ही उसके साधनकी पूर्णता है।

प्रश्न—साधनविरुद्ध कार्यके मूलमें क्या है ?

उत्तर—साधनविरुद्ध कार्यके मूलमें सुखभोगकी आसक्ति है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सुखासक्ति बहुत बाधक है। सुखासक्ति अधिक होनेसे उसका त्याग कठिन, असम्भव दीखता है। परंतु साधक इस सुखासक्तिके त्यागमें स्वतन्त्र है और विचारपूर्वक इसका त्याग कर सकता है। वह विचार करे कि मुझे वह सुख लेना है, जिसमें कोई कमी न हो तथा जो कभी नष्ट न हो—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(गीता ६। २२-२३)

'जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।'

'जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको '**योग**' नामसे जानना चाहिये।'

मनुष्यमें विचारकी जितनी शक्ति है, उतनी देवताओंमें भी नहीं है। वह विचार नहीं करता तो यह उसका प्रमाद है, असावधानी है।

सुखभोगसे भोग्य वस्तुका नाश और अपना पतन होता है—यह नियम है। जैसे, रागपूर्वक धनका भोग करते हैं तो धनका नाश और अपना पतन करते हैं। अपनेमें धनका महत्त्व, कामना, लोभ, आसक्ति, जडता, गुलामी आदि आना ही अपना पतन है। रागपूर्वक भोजन करते हैं तो अन्नका नाश और अपना पतन करते हैं। अपनेमें भोजनकी आसक्ति बढ़ना ही अपना पतन है।

सांसारिक सुखभोगका तो कहना ही क्या है, साधनजन्य सुखका भोग करनेसे भी साधकका पतन हो जाता है ! जैसे, त्यागसे जो शान्ति मिलती है, उस शान्तिका उपभोग करनेसे वह त्याग नहीं रहता और साधकका पतन हो जाता है। कारण कि साधनजन्य सुखके भोगसे मरा हुआ अहंकार भी जीवित

* न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ (गीता ६। २)
'संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता।'

हो जाता है अर्थात् व्यक्तित्व जाग्रत् हो जाता है और दृढ़ हो जाता है, जो कि महान् अनर्थका, जन्म-मरणका हेतु है। जबतक अपनेमें अच्छेपनका भाव रहता है, अपनेमें कोई विशेषता दीखती है, तबतक व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता अर्थात् अपनेमें एकदेशीयपना रहता है। अतः साधनमें ऊँची स्थिति होनेपर भी तथा अपनेमें जीवन्मुक्त या गुणातीत-अवस्थाकी मान्यता होनेपर भी उसका सुख नहीं भोगना चाहिये। इस विषयमें साधकको बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

सम्बन्ध-विच्छेद—एक अनुपम साधना

(एक साधक)

मिले हुए शरीरके नाश होनेके पहले-पहले शरीर एवं शरीरके सभी सम्बन्धियोंसे भूलजनित माने हुए सम्बन्धको तोड़कर प्रभुके साथ अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव कर लेना मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ है। जिस क्षण मानव इस भूलजनित सम्बन्धको तोड़ता है, बस उसी क्षण वह दुःख, चिन्ता, भय आदिसे सदैवके लिये सर्वांशमें मुक्त होकर अलौकिक आनन्दकी अनुभूति करता है। सम्बन्धके विषयमें निम्न बातें चिन्तनीय एवं मननीय हैं—

सम्बन्ध क्या है ?—इस नाशवान् संसारकी किसी भी वस्तु एवं व्यक्तिको 'मेरा' मानकर उससे सुख लेनेकी आशा रखना ही सम्बन्ध है। 'यह मेरी है' और 'इससे मुझे सुख मिलेगा'—इस भावनाका नाम ही सम्बन्ध है।

क्या सम्पूर्ण संसारसे हमारा सम्बन्ध है ?—इस सम्पूर्ण विशाल संसारसे हमारा सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध तो इस संसारके एक अत्यन्त छोटे भागसे है। हमें तो केवल उसीसे मुक्त होना है। शेष संसारसे तो हम मुक्त ही हैं।

हमारा सम्बन्ध किनसे है ?—जिनके संयोग एवं अनुकूलतामें हमें सुख और जिनके वियोग एवं प्रतिकूलतामें हमें दुःखका अनुभव होता है, बस उन्हींसे हमारा सम्बन्ध है।

उन सम्बन्धियोंके नाम क्या हैं ?—प्रायः मनुष्यका सम्बन्ध निम्न तीनसे रहता है—

(क) मिले हुए शरीरसे—मानवमात्रको तीन शरीर मिले हुए हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर।

(ख) शरीरके सम्बन्धी अर्थात् परिवारके सदस्य, जैसे—माता, पिता, पति, पत्नी, संतान, भाई, बहन आदि।

(ग) मिली हुई सम्पत्ति, जायदाद, धन आदि।

इन तीन सम्बन्धियोंके साथ सदैव नहीं रह सकते। इस सम्बन्धको सुरक्षित नहीं रख सकते। एक दिन वह क्षण अवश्य आयेगा, जब कि हमें इन तीनों सम्बन्धियोंको यहीं छोड़कर यहाँसे जाना ही होगा। स्थूल एवं भौतिक दृष्टिसे इनसे हमारा सम्बन्ध निश्चित रूपसे टूटेगा ही।

क्या मृत्यु होनेपर सम्बन्ध टूट जाता है ?—यदि शरीरके रहते-रहते हम इन तीनों सम्बन्धियोंसे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ते हैं तो स्थूल शरीरके नाश हो जानेपर भी हमारा सम्बन्ध नहीं टूटता। शरीर मरता है, सम्बन्ध नहीं मरता। शरीरके नाश होनेसे सम्बन्धका नाश नहीं होता। मृत्युके बाद शरीरको जला अथवा गाड़कर नष्ट कर देनेपर भी सम्बन्ध एकदम वैसा-का-वैसा यथावत् बना रहता है। शरीरके रहते-रहते सम्बन्ध तोड़ लेनेपर मृत्युके बाद सम्बन्ध रहनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

मृत्युके बाद भी सम्बन्ध कैसे रहता है ?—मृत्यु स्थूल शरीरकी होती है, सूक्ष्म एवं कारण शरीरकी नहीं। ये दोनों शरीर तो हमारे साथ ही जाते हैं। मनुष्य अपना भूलजनित सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरसे जोड़ता है। इसलिये वह सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरके साथ ही आगे चला जाता है। हाड़, मांस, रक्त, मज्जा आदिका बना हुआ जो दिखायी देनेवाला एक शारीरिक आकार है, ढाँचा है, उसे स्थूल शरीर कहते हैं। हमारेमें रहनेवाली भावना एवं विचार ही 'सूक्ष्म शरीर' है। 'मैं हूँ' अथवा 'अहंकृति' अपने होनेपनका भास ही 'कारण शरीर' है।

अन्तिम समयमें हम जिसकी स्मृतिको लेकर स्थूल शरीरको छोड़ते हैं, उसीसे हमारा सम्बन्ध बना हुआ रह जाता है। शरीर-नाशके बाद स्मृतिके अनुसार हमें दूसरा शरीर तो मिल जाता है, लेकिन उस शरीरमें भी पूर्व-सम्बन्धकी स्मृति

क्या [illegible] ?—हम किसी भी उपायसे

बनी रहती है।

श्रीगीताजीमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है।' (८।६)

संत-वाणीके अनुसार अन्तिम समयमें धन, स्त्री, पुत्र, घरकी स्मृतिमें मरनेवालेको क्रमशः सर्प, वेश्या, सूकर एवं प्रेतकी योनि मिलती है। प्रभुकी स्मृतिमें शरीर-त्याग करनेवाला प्रभुके स्वरूपको प्राप्त होता है।

अन्तिम समयमें किसकी स्मृति रहती है ?—अन्तिम समयमें मनुष्यको प्रायः उसीकी स्मृति रहती है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध रहता है। शरीर, परिवार एवं सम्पत्तिके साथ सम्बन्ध रखनेसे इन्हींकी स्मृति रहती है। प्रभुके साथ सम्बन्ध रहनेसे प्रभुकी स्मृति रहती है। संसारके सम्बन्धसे मानव बार-बार संसारचक्रमें चक्कर लगाता है। प्रभुके सम्बन्धसे प्रभुमें वास होता है।

सम्बन्धके होने एवं न होनेका प्रमाण क्या है ?—जबतक जीवनमें कभी सुख एवं कभी दुःखका अनुभव होता है, तबतक यही माना जाता है कि हमारा सम्बन्ध इस शरीरादिसे है। किसी भी परिस्थितिमें सुख-दुःखका अनुभव न हो, सुखके स्थानपर प्रसन्नता एवं दुःखके स्थानपर करुणाका अनुभव हो और हर हालतमें हृदयमें आनन्दका सागर लहराता रहे, तभी यह माना जाता है कि हमारा भूलजनित सम्बन्ध टूट गया है और हमें प्रभुके साथ नित्य-सम्बन्धकी अनुभूति हो गयी है।

सम्बन्ध रखकर एवं तोड़कर सम्बन्धीके साथ रहनेका क्या परिणाम है ?—सम्बन्ध रखकर सम्बन्धीके साथ रहना सबसे बड़ा असाधन, अकर्तव्य एवं भोग है। ऐसे मनुष्यकी बाह्य रूपसे दीखनेवाली पवित्रतम प्रवृत्ति एवं बड़ी-से-बड़ी निवृत्ति भी बन्धनकारी होती है। सम्बन्ध तोड़कर सम्बन्धीके साथ रहना सबसे बड़ा साधन कर्तव्य एवं योग है। ऐसे मनुष्यकी प्रत्येक प्रवृत्ति एवं क्षणिक निवृत्ति प्रभुकी पूजा या जगत्‌की सेवा होती है। वासनारहित प्रवृत्ति किसी भी निवृत्तिसे कम नहीं होती और वासनायुक्त निवृत्ति किसी भी प्रवृत्तिसे कम नहीं होती।

सम्बन्धके दो रूप—सम्बन्धीसे सुख लेनेकी आशा या भावना रखना 'लेनेका सम्बन्ध' कहलाता है। सम्बन्धीको सुख, प्रसन्नता, आराम, आनन्द देनेकी भावना रखना 'देनेका सम्बन्ध' कहलाता है। लेनेका सम्बन्ध घोर बन्धनकारी एवं महान् दुःखदायी है। इस सम्बन्धसे मनुष्य राग, द्वेष, क्रोध, पराधीनता आदिमें आबद्ध हो जाता है। ऐसे व्यक्तिका 'लेना' तो लेना होता ही है, 'देना' भी 'लेना' हो जाता है। 'लेना' बन्धनकारी नहीं होता, लेनेका सम्बन्ध बन्धनकारी होता है। देनेका सम्बन्ध महान् कल्याणकारी एवं आनन्ददायी होता है। इस सम्बन्धसे मनुष्य अपने सम्बन्धियोंसे मुक्त होकर अपनेमें संतुष्ट हो जाता है एवं प्रभुमें वास करता है। ऐसे व्यक्तिका 'देना' तो देना होता ही है, उसका तो 'लेना' भी देना बन जाता है। महिमा है देनेके भावकी, देनेकी नहीं।

साधनाका परिणाम क्या होना चाहिये ?—अपने सम्बन्धियोंकी व्यावहारिक एवं पारमार्थिक साधना करनी चाहिये, जिससे कि कभी सम्बन्धियोंसे हमारा सम्बन्ध स्वतः टूट जाय, सभी सम्बन्धियोंके लिये हृदयमें अनन्त प्रेमकी गङ्गा उमड़ने लगे। 'ममत्व' का सर्वांशमें नाश हो जाय और उसके स्थानपर 'अपनत्व' का गहरा भाव बन जाय। ममत्वमें लेनेका भाव और अपनत्वमें 'देनेका भाव' रहता है। साधनाका परिणाम यह हो कि हम हमारे सम्बन्धियोंसे उसी प्रकार असंग हो जायँ, जैसे अन्य संसारसे एकदम असंग हैं।

सम्बन्ध-विच्छेदकी क्या साधना है ?—हमारे तीन मुख्य सम्बन्धी हैं—शरीर, परिवार एवं सम्पत्ति। तीनोंसे सम्बन्ध तोड़ना है। सम्बन्ध-विच्छेदकी साधनाके पहले निम्न बातोंपर ध्यान देना हितकर होगा—

(१) **क्रिया साध्य नहीं है**—सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये शरीर, इन्द्रियाँ एवं बाह्य संसारकी सहायताके द्वारा किसी भी प्रकारका कोई कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हमारा सम्बन्ध किसी कर्म या क्रियासे नहीं जुड़ा है। सम्बन्ध तो बना है—ममत्वका भाव रखकर सुख लेनेकी आशासे। भाव एवं आशा सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्धित हैं न कि स्थूल शरीरसे।

(२) **पराश्रय, पराधीनता श्रम नहीं**—सम्बन्ध-विच्छेदमें लेशमात्र भी पराधीनता नहीं है, इसमें पराश्रयकी

आवश्यकता भी नहीं होती। परिश्रम एवं अभ्यास भी अपेक्षित नहीं हैं। ये सब तो कर्ममें जरूरी हैं।

(३) **समय अपेक्षित नहीं**—सम्बन्ध-विच्छेद अभी-अभी इसी क्षण किया जा सकता है। इसमें एक पलका भी समय नहीं लगता।

(४) **परिवर्तन अपेक्षित नहीं**—सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये किसी भी प्रकारके परिवर्तनकी किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है। न स्थान बदलनेकी जरूरत है और न वस्त्र बदलनेकी, न परिवार छोड़नेकी जरूरत है और न किसी निर्जन स्थानपर जानेकी। हम जहाँ भी जायँगे, हमारा एक सम्बन्धी, अर्थात् 'शरीर' तो हमारे साथ ही रहेगा। हाँ, यदि परिवर्तनसे सम्बन्ध-विच्छेदमें हमें सुगमता लगे तो परिवर्तन बुरा नहीं है। लेकिन केवल परिवर्तनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा—ऐसा सोचना भूल होगी। सम्बन्ध-विच्छेदके लिये सूक्ष्म शरीर अर्थात् भाव-परिवर्तन अपेक्षित है।

वास्तविक साधना—हम जहाँ हैं, जैसे हैं, जो कुछ करते हैं, वहीं, वैसे ही, सब कुछ करते हुए एक पलमें ही सभी सम्बन्धियोंसे अपना सम्बन्ध तोड़ सकते हैं। इसकी साधना यह है कि हम अपने-आपसे ही यह निर्णय लें, यह व्रत लें कि इस क्षणके बाद—

'हम हमारे अच्छे सम्बन्धियोंसे सुख लेनेकी आशा नहीं रखेंगे और बुरे सम्बन्धियोंको बुरा नहीं समझेंगे।'

'अच्छेसे आशा छोड़ देना एवं बुरेको बुरा न समझना' सम्बन्ध-विच्छेदकी अमोघ एवं अनुपम साधना है।

अच्छेसे आशा कैसे छोड़े?—जिन सम्बन्धियोंको हम अच्छा समझते हैं, हम उनकी दासता एवं चिन्तनमें आबद्ध हो जाते हैं। निवृत्ति-काल एवं भगवान्‌का भजन करते समय बार-बार हमारा ध्यान स्वतः उनकी ओर चला जाता है। यहाँतक कि उनकी अनुपस्थिति एवं दूरीके समय हमें उनकी स्मृति इतनी तीव्र होती है कि हमें प्रभुकी विस्मृति हो जाती है। प्रभुकी विस्मृति ही सबसे बड़ी विपत्ति है।

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

(रा०च०मा० ५।३१।२)

यदि हमसे पहले उनकी मृत्यु हो जाती है तो हमें उनके वियोगकी असह्य वेदना होती है। हम जीवनपर्यन्त दुःखी रहते हैं। यदि उनसे पहले हमारी मृत्यु हो जाती है तो अन्तिम समयमें हमें उन्हींकी स्मृति रहती है और तदनुसार हमारी गति होती है। इतना ही नहीं, हम उनकी इस चिन्ताको साथ लेकर शरीर छोड़ते हैं कि हमारी मृत्युके बाद उनका क्या होगा।

अच्छे सम्बन्धीसे सुख लेनेकी आशा छोड़नेका मूल मन्त्र यह है कि अच्छा सम्बन्धी हमें कुछ भी नहीं दे सकता। हमारे शरीरको जो कुछ मिलता है, वह तो उस क्षण ही तय हो जाता है, जिस क्षण प्रभु उसे मानव-जीवन देनेका निर्णय लेते हैं। परम शान्ति, जीवन्मुक्ति एवं भगवद्भक्ति मिलती है—कर्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयतासे। अच्छा सम्बन्धी न हमारे शरीरके काम आता है और न स्वयंके। हमें उससे कुछ भी नहीं मिलता; लेकिन आशा रखनेके कारण हम उसके रागमें फँस जाते हैं। अतः आशा न रखे।

बुरेको बुरा कैसे न समझें—जिस सम्बन्धीको हम बुरा समझते हैं, हमें उसपर क्रोध आता है। क्रोधसे अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश होनेसे वह अपने श्रेय-साधनसे गिर जाता है—

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २।६३)

बुरा समझनेमात्रसे हमारा मानव-जीवन बेकार हो जाता है। हमारा पतन हो जाता है। हमें प्रभुकी, निज-स्वरूपकी एवं अपने कर्तव्यकी विस्मृति हो जाती है। हम घोर दुःखमें आबद्ध हो जाते हैं। हमारे हृदयका प्रेम सूख जाता है।

बुरा न समझनेका मूल मन्त्र यह है कि 'हमारे दुःखका कारण कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। कोई भी इंसान हमें दुःख दे ही नहीं सकता। हमारे दुःखका कारण तो केवल हमारी अपनी ही भूल है। वह भूल है—विवेकका अनादर करके अपनेको शरीर मान लेना और विश्वासमें विकल्प करके प्रभुके प्रत्येक विधानमें प्रभुकी कृपा एवं अपनी मङ्गलकारिताके दर्शन नहीं करना।'

शृंगवेरपुरमें भगवान् श्रीराम एवं सीताजीको अशोक वृक्षके नीचे घास-फूसकी साथरीपर सोये हुए देखकर

निषादराज गुहको बड़ा दुःख हुआ और उसने यही सोचा कि यह सब कर्मोंका ही भोग है—

सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥

बादमें लक्ष्मणजीने भी इसका समर्थन करते हुए बताया कि कोई किसीके सुख-दुःखका दाता नहीं है—यह तो अपने कर्मोंका ही भोग है। ऐसा विचार कर किसीपर न तो क्रोध करना चाहिये और न किसीको दोष देना चाहिये। मानसमें वर्णन आया है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥

सुख-दुःख साधन-सामग्री है—कर्मोंके फलस्वरूप मानवके सामने अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति आती है। उसमें सुखी-दुःखी होना भूल है। बुद्धिमान् साधक सुख-दुःखको अपनी साधनाकी सामग्री मानते हैं एवं सुख-दुःखका सदुपयोग करके सुख-दुःखसे अतीत आनन्दमय जीवनकी प्राप्ति कर लेते हैं। सुखमें सेवा करना एवं दुःखमें सुखकी इच्छाका त्याग कर देना ही सुख-दुःखका सदुपयोग है।

सुख-दुःख प्रभु-प्रसाद है—प्रभु-विश्वासी साधक सुख-दुःखको अपने प्यारेका भेजा हुआ मङ्गल-प्रसाद मानकर सदैव प्रसन्न रहते हुए सेवा एवं त्यागको अपनाते हैं।

सम्पत्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद—'सम्पत्ति मेरी नहीं है, मेरे लिये नहीं है, सम्पत्तिसे मुझे शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति नहीं मिल सकती'—यही वह महामन्त्र है, जिसे अपनाते ही सम्पत्तिसे सम्बन्ध टूट जाता है। प्रभु-विश्वासी साधक सम्पत्तिको प्रभुकी मानते हैं। भौतिकवादी साधक इसे संसारकी मानते हैं। प्रभु-विश्वासी प्रभुके नाते एवं भौतिकवादी जगत्‌के नाते मिली हुई सम्पत्तिको जगत्‌की सेवामें लगाते हैं। इससे सम्पत्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

स्मृतिकी प्राप्ति—शरीर, परिवार एवं सम्पत्तिसे सम्बन्ध रखना ही मोह है। इनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना ही मोहका नाश होना है। मोह-नाश होते ही मानवको प्रभुकी, अपने कर्तव्यकी और निज-स्वरूपकी स्मृति हो जाती है। स्मृतिमें ही इस जीवनकी पूर्णता है।

गीताका उपदेश देनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा कि 'क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह (सम्बन्ध) नष्ट हुआ?' अर्जुनने उत्तर दिया—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** अर्थात् मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे स्मृति प्राप्त हुई है।

विद्या किसे आती है?

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'मेरा मन राजाजीके बागके आम खानेको चाहता है।'

'लेकिन राजाके बागके आम लाना साधारण व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं है। फिर हमलोग अस्पृश्य हैं। अछूत भंगीको कौन देगा रसीले आम, वे आम जो राजाजीके खुद खानेके लिये डालपर पकाये गये हों?'

'जैसे बने मुझे आम खिलाओ। मेरा मन आमके वृक्षपर पके-पके रसीले आमोंको देखकर ललचा रहा है। कैसे पके हुए हैं, कितने मीठे होंगे!'

एक आह भरकर भंगी बोला—'लेकिन प्रिये! यह काम हम-जैसे निम्न जातिवालोंके लिये आसान नहीं है। समाज हमें अछूत कहता है। हमें छूनेतकसे परहेज करता है। यह मेरे-जैसे अछूत समझे जानेवाले व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं है। लोग मुझे छूने, बातें करने और पास आनेतकसे बचते हैं।'

भंगिनने कहा—'सम्भव है! आप ही यह काम कर सकते हैं।'

'वह किस तरह?' भंगीने स्पष्टीकरण माँगा।

'पतिदेव! आपको एक ऐसी विद्या आती है, जिससे आप वृक्षकी डालीको नीचे झुका या ऊपर उठा सकते हैं। यह अद्भुत और आश्चर्यजनक विद्या बड़े पुण्य-प्रताप और साधनासे आपने अपने गुरुसे सीखी है। उसका उपयोग नहीं किया है अबतक।'

'सो तो है। वृक्षोंकी डालियोंको झुका लेना या ऊँचा उठा देना, यह विद्या मुझे आती है। मैं निरन्तर दीर्घकालतक साधना करता रहा, तभी इसे पूरी तरह सीख सका हूँ।'

'फिर आप [illegible] क्या अपनी प्रिय धर्मपत्नीको

नहीं दिखलाओगे ?' पत्नी तरह-तरहसे पुनः-पुनः पतिसे आग्रह करने लगी।

'अच्छा, तुम इतनी जिद कर रही हो तो राजाके यहाँसे आम लानेकी कोई युक्ति निकालूँगा।' उसने पत्नीको आश्वासन दिया।

इस छोटी-सी माँगकी पूर्तिके लिये उसने एक योजना बनायी। वह क्या थी ?

एक रात वह राजाजीके बागमें चुपचाप घुस गया। आमके वृक्षके नीचे जाकर अपनी अद्भुत विद्याके बलसे टहनियाँ झुकायीं और आम चुरा लाया। वृक्षपर चढ़नेसे जो ध्वनि होती है, वह आवाजतक नहीं हुई।

दूसरे दिन लोग आश्चर्यमें आ गये कि चुपचाप बिना आवाज किये किसकी हिम्मत हुई जो राजकीय बागसे आम चुरा ले गया।

रानीका मन भी उन आमोंपर था। जब उसने देखा कि आम चोरी हो गये हैं तो हंगामा हो गया। मालीको सजा मिली। सभी चकित-चिन्तित, राजाको भी बड़ा खेद हुआ। पूरे राज्यमें इस चोरीकी हलचल फैल गयी।

रानीकी जिद थी, किसी-न-किसी तरह चोर पकड़ा ही जाना चाहिये। राजाके राज्यमें एक बड़ा बुद्धिमान् जासूस था। नाम था—अभयकुमार। उसने अनेक जटिल चोरियोंका भंडाफोड़ किया था। वह दत्तचित्त हो चोरीका पता लगानेके कार्यमें लग गया। सभी उत्सुक थे चोरको पकड़वानेके लिये।

अभयकुमारने रातमें वेश बदलकर घरोंके पिछवाड़े, परिवारोंकी बातचीत सुनते हुए एक रात उस भंगीके घर ये बातें सुनीं—

'पतिदेव ! राजाके बगीचेके आम बहुत मीठे थे। उनका स्वाद आज भी मेरी जिह्वापर है। आपकी बड़ी कृतज्ञ हूँ, आपका प्रेम अमर है।'

'हाँ, हाँ, यह काम तो मैं अपनी विशेष विद्याके बलपर ही कर सका, अन्यथा राजाजीके बागसे आम चुरा लानेकी किसकी हिम्मत हो सकती थी ?'

यह सुनकर अभयकुमारने भंगीको पकड़ लिया। भंगी सज्जन था, उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और अभयकुमारसे अपनी अद्भुत विद्याका हाल कहा। मन्त्रीने इस विचित्र विद्याका हाल राजाको बतलाया।

'मेरे बागमें चोरी करनेकी उस भंगीने कैसे हिम्मत की ? मैं चोरको बड़ी-से-बड़ी सजा दूँगा। राजा क्रोधसे उन्मत्त हो उठा। क्रोध विषधर सर्पके समान है।' जब इसका विष चढ़ता है तो व्यक्ति दूरगामी फल नहीं सोच पाता।

मन्त्री शान्त-स्वभाव एवं दूरदर्शी था। वह आगेकी उपयोगी बातें बखूबी समझ लेता था। ठंढे मनसे सोचकर उसने यह सलाह दी—

'राजन् ! पहले इस भंगीसे वृक्षोंकी डालियाँ नीचे झुकाने या ऊपर उठा सकनेकी अद्भुत विद्या तो सीख लीजिये। फिर जैसी चाहें भंगीको वैसी सजा दीजियेगा। विद्या बड़ी नियामत है। विद्यावान् ही गुरु है। भंगी-जैसे नीच जातिके आदमीसे भी विद्या प्राप्त करनेमें हिचकना नहीं चाहिये।'

'वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति ॥'

(महाभारत, अनु० १४३। ५१)

अर्थात् आचारवान् विद्या-प्राप्त शूद्र भी ब्राह्मणत्व पा लेता है।

राजा गम्भीरतासे मन्त्रीके सुझावपर विचार करता रहा। उसके विवेकने कहा कि यह सुझाव उचित है। किसीमें जो भी विद्या हो, अच्छी बात हो, उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिये। विद्यासे सम्मान मिलता है, विद्वत्ता और राजाकी पदवी—इन दोनोंमें विद्वान् ही बड़ा माना गया है। राजा तो केवल अपने ही राज्यमें आतंकके कारण पूजा जाता है, किंतु विद्याके कारण विद्वान् तो देश-परदेश सभी जगह पूजा जाता है। विद्या सब कल्याणोंकी नींव है। इससे लोक और परलोक, स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही सुधरते हैं, समाजके व्यवहारमें बड़ी सफलता मिलती है।

राजाने भंगीको गुरुके रूपमें आमन्त्रित किया। उसने भंगीको अछूत मानते हुए भूमिपर बैठाया, स्वयं राजकीय आसनपर बैठा और उससे मन्त्र सीखने प्रारम्भ किये।

लेकिन यह क्या ? इधर भंगी मन्त्रका अर्थ बताता, राजाको खूब समझाता, बार-बार रटाता, किंतु राजाकी स्मृतिमें कुछ भी न रहा। उसका मन मन्त्रपर एकाग्र न हुआ। यों राजा बुद्धिमान् था। सामान्यसे ऊँचा था, किंतु मन्त्र न सीख सका। एक सीधा-सादा [illegible] नहीं किया।

अभयकुमारने राजाको सलाह दी—'राजन्! विद्या गुरुमें श्रद्धा, सेवाभाव, निष्ठा एवं विनयसे ग्रहण की जाती है। इसलिये आप भंगी गुरुको तो सम्मानपूर्वक मनमें श्रद्धा रखकर उच्च आसनपर बैठाइये और स्वयं आज्ञाकारी शिष्यकी तरह भूमिपर बैठिये। इस विनयसे ही विद्या आपके मनमें ठहरेगी। विद्या तो जलके प्रवाहकी तरह है। जैसे जलका स्वभाव ऊँचाईसे नीचेकी ओर जानेका है, उसी प्रकार विद्या भी उच्च आसनपर विराजमान गुरुसे नीचे विनयपूर्वक बैठे हुए विद्यार्थीके मनमें आती है। जो शिष्य गुरुमें जितनी आस्था, श्रद्धा और विश्वास रखेगा, वह उतना ही विद्वान् बनेगा।'

राजाको यह रहस्य जँच गया। 'ठीक है, मैं भंगी गुरुको उच्च आसनपर विराजमान कराकर स्वयं भूमिपर बैठ शिष्यकी भाँति ही पूर्ण श्रद्धासे विद्या ग्रहण करूँगा।' उसने संकल्प किया।

आश्चर्य! महान् आश्चर्य!! इस विनयको अपनानेसे तुरंत विद्या आ गयी। गुरुका ज्ञान उसकी स्मृतिमें बैठता गया।

राजाने अब इस भंगी गुरुको फल चुरानेकी सजा नहीं दी, क्योंकि अब उसका मन विनयके कारण गुरुके लिये आदरसे भर गया था। उस दिनसे वह उस गुणी भंगीको गुरुकी तरह सम्मान देने लगा। गुरुको प्रतिष्ठा और आदर दिये बिना विद्या नहीं आती।

जीवनका लक्ष्य

(डॉ॰ श्रीसुनीलकुमारजी)

प्रिय सच्चिदानन्दांश आत्मस्वरूपजन!

हम सब जीव एकमात्र उस अनन्त, अविनाशी, सत्-चित्, आनन्दस्वरूप ब्रह्मके अंश हैं। यथार्थमें यह उन करुणा-वरुणालय प्रभुकी असीम कृपा है, जो हम सबको मानव-देह प्राप्त हुआ है। यह देवदुर्लभ मानव-देह सर्वोत्तम है, कारण, अपना हित-अहित, स्वार्थ-हानि, उचित-अनुचित पहचानने एवं निर्णय करनेकी विवेकशक्ति केवल मनुष्यको ही प्राप्त है; मनुष्येतर किसी अन्य योनिके जीवको नहीं। अतः अपना स्वार्थ सिद्ध करना—परमार्थकी प्राप्ति करना प्रत्येक मनुष्यका प्रथम कर्तव्य तथा लक्षण भी है।

प्रभुकी इस सृष्टिमें प्रत्येक कार्य सोद्देश्य होता है। अस्तु, मनुष्य-शरीर भी हमें किसी उद्देश्यसे प्रदान किया गया होगा। उस उद्देश्यको हमें पहचानना होगा एवं प्राप्त करनेके लिये अपनी समस्त चेष्टाओंको पूर्णरूपसे निर्देशित करना होगा। उस जीवन-लक्ष्यकी प्राप्ति न होनेतक हम अतृप्त, अशान्त एवं दुःखी ही रहेंगे।

जरा विश्लेषण करें कि हम सभी अपना प्रत्येक कार्य आनन्द या सुख प्राप्त करनेके उद्देश्यसे करते हैं या नहीं। वह असीम आनन्द जो हमारी सनातन माँग है, भौतिक वस्तुओं एवं व्यक्तियोंमें निश्चित रूपसे नहीं है। भौतिक वस्तुओंका भोग करना मनुष्यका लक्ष्य नहीं है। यदि भौतिक वस्तुओं एवं लौकिक व्यक्तियोंके संयोगमें सुख होता तो अबतक हमें कभीकी शान्ति मिल गयी होती, किंतु हम सभीका यह दैनिक प्रत्यक्ष अनुभव है कि भौतिक वस्तुओंके उपभोगसे हमें तृप्ति नहीं होती, बल्कि एक आवश्यकताकी पूर्तिके बाद दूसरी और तीसरी आवश्यकताकी अनुभूति उत्तरोत्तर होती जाती है। दूसरीकी पूर्तिके बाद तीसरी, चौथी, पाँचवीं इस प्रकार अनन्त इच्छाओंकी पूर्तिमें ही हम धन, समय, शक्तिका व्यय करते रहते हैं। किंतु यह निश्चित बात है कि कामनाओं—इच्छाओंका प्रवाह निरन्तर तीव्रसे तीव्रतर होता जाता है और उपभोगसे कामनाओंकी तृप्ति भी सम्भव नहीं।

संत-महात्माओं एवं शास्त्रोंके अनुसार सत्य यह है कि हम सब जीव उन अनन्त शुद्ध-बुद्ध परम आनन्दस्वरूप प्रभुके सनातन अंश हैं, अतः अपने दिव्य अंशी परमात्माकी प्राप्ति करना ही हमारा परम चरम लक्ष्य है। हमें चिन्मयानन्द, चिरशान्ति, अपने सनातन स्वार्थकी सिद्धि केवल अपनी वृत्तियोंको अन्तर्मुखी बनाकर प्रभुके चरणारविन्दोंमें निष्काम प्रेम करनेसे ही होगी। हमें यह बात भलीभाँति सदाके लिये समझ लेनी चाहिये कि दिव्य आत्मस्वरूप अथवा चिन्मय आनन्द प्राप्त करनेके अपने अनादि उद्देश्यकी प्राप्ति इन प्राकृत सांसारिक वस्तुओंसे अनन्तकालमें भी होना असम्भव है। इस सत्यको हम चाहे आज मन, बुद्धि तथा हृदयसे पूर्णरूपसे

स्वीकार करके उस आनन्दकी प्राप्तिमें लग जायँ अथवा अपने अज्ञान एवं मिथ्या अभिमान तथा तुच्छ बुद्धिसे इस सत्यकी उपेक्षा करते हुए भौतिक सुखोंके भोगमें ही लगे रहें तथा अनन्तकालतक इसी प्रकार अतृप्त, अशान्त भटकते रहें।

विचार करें कि कोई नियामक सत्ता इस सृष्टिका नियमित संचालन कर रही है। इस संसारके स्वरूपको समझें। प्रतिदिन अपने निकट सम्बन्धियों, मित्रों, परिचितों, अपरिचितोंको इस संसारसे प्रस्थान करते हुए हम देखते एवं सुनते हैं। वास्तवमें यह जग एक सराय है, जहाँ जीवोंका पूर्वजन्मकर्मानुसार अस्थायी संगम होता है। निश्चित समयके पश्चात् सबको अपने-अपने घर जाना है। यह बात सदा ध्यानमें रहे कि अन्योंकी भाँति हमको भी किसी भी क्षण मृत्युका निमन्त्रण आ सकता है। शरीर-त्यागके पश्चात् ये मित्र, सम्बन्धी, भौतिक सम्पत्ति सब छूट जायँगे, अपने कर्मोंका हिसाब हमसे ही लिया जायगा, अतः विवेकपूर्वक कर्म करने चाहिये।

विचार करो कि मैं कौन हूँ ? क्या मैं शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि हूँ या अन्य कोई नित्यतत्त्व। मैं कहाँसे आया हूँ, मुझे कहाँ जाना है, मेरा सच्चा मित्र कौन है ? वास्तवमें वे परमात्मा ही सदासे हमारे थे, हमारे हैं एवं हमारे ही रहेंगे। वही हमारे माता, पिता, मित्र, स्वामी हैं, जो हमारा पालन करते हैं तथा रक्षा करते हैं। हमें सच्ची जिज्ञासाके साथ तथा अभिमान त्यागकर सच्चे संतोंका संग करना चाहिये तथा उनसे तत्त्वज्ञान समझकर उनके द्वारा बतायी गयी साधनाके अनुसार प्रभुको अपनी श्रद्धा तथा भावानुसार माता, पिता, स्वामी, मित्र कुछ भी नाता जोड़कर अबोध बालकके रूपमें अपने पापोंके लिये क्षमा माँगनी है तथा अपनेको दीन, हीन समझकर उनसे मिलनेकी, उनके निष्कामप्रेमकी भिक्षा उन प्रभुसे ही माँगनी है। मनसे एकमात्र प्रभुसे ही प्रेम करना है; शरीर, धन, पद, योग्यता, सामर्थ्य आदि जो प्रभुने हमें प्रदान किये हैं, उन्हें संसाररूपी प्रभुकी सेवामें ही लगाना है। सभी सम्बन्धियों एवं अन्य व्यक्तियोंसे एक मुसाफिरके रूपमें प्रेम एवं सेवाका विनम्र व्यवहार करते हुए एक कलाकारकी भाँति अनासक्त रहते हुए मनसे सभीका कल्याण चाहते हुए अपना कर्तव्य पूरा करना है।

अपनी बुरी आदतों, दुर्व्यसनों तथा गंदे विचारोंका सर्वथा त्यागकर शुभ विचारोंको अपनायें। सावधान, उठो, जागो तथा लक्ष्यको पानेमें लग जाओ। प्रभु हमारे सहायक बनेंगे। मानव-देह पाकर अभिमान एवं अज्ञानवश ईश्वरीय पथपर न चले, समयका दुरुपयोग किया तो अन्तमें हमारी महान् हानि होगी, जिसके लिये हमें पछताना पड़ेगा। चेतो, अबतक बहुत सो चुके। लक्ष्यपथपर अग्रसर होनेमें ही मनुष्य-जीवनकी सफलता है।

तृष्णाका अन्त नहीं है

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता। अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥
अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम्। विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः॥
अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्। तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः॥

(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २)

मूर्ख मनुष्योंके प्रतिदिन सैकड़ों और हजारों भय और शोकके अवसर आया करते हैं, ज्ञानियोंके सामने नहीं। यह तृष्णा महापापिनी है, उद्वेग पैदा करनेवाली है, अधर्मसे पूर्ण और भयंकर है तथा समस्त पापोंकी जड़ है। दुर्बुद्धिवाले मूर्ख इसका त्याग नहीं कर सकते। बूढ़े होनेपर भी यह बूढ़ी नहीं होती। यह प्राणोंका अन्त कर देनेवाली बीमारी है, इसका त्याग कर देनेपर ही सुख मिलता है। जैसे लोहेके भीतर प्रवेश करके सर्वनाशक अग्नि उसका नाश कर देती है, वैसे ही प्राणियोंके हृदयमें प्रवेश करके यह तृष्णा भी उनका नाश कर देती है और स्वयं नहीं मिटती। तृष्णाका कहीं अन्त नहीं है, संतोषमें ही परम सुख है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष संतोषको ही श्रेष्ठ मानते हैं।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

गीतामें सगुणोपासनाके नौ प्रकार

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

स्वकीयोपासना प्रोक्ता नवधा फाल्गुनं प्रति।
तासां यया कया युक्तो हरिं प्राप्नोति मानवः॥

गीतामें सगुण-उपासनाका नौ प्रकारसे वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) सबके आदिमें भगवान् हैं—जो मनुष्य मेरेको अजन्मा, अनादि (सबका आदि) और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर मानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है (१०।३); मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव (निमितकारण) तथा प्रलय (उपादान कारण) हूँ अर्थात् सबका आदि कारण हूँ (७।६); दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी जानकर अनन्यमनसे मेरा भजन करते हैं (९।१३); आदि-आदि।

(२) सबमें भगवान् हैं—जो सबमें मेरेको देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता (६।३०); जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरेको स्थित देखता है (६।३१); मैं अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हूँ (९।४); प्राणियोंके अन्तःकरणमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ (१०।२०); वह परमात्मा सबके हृदयमें स्थित है (१३।१७); मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ (१५।१५); ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित है (१८।६१); आदि-आदि।

(३) सब भगवान्में हैं—जो सबको मेरेमें देखता है, वह मेरे लिये कभी अदृश्य नहीं होता (६।३०); यह सम्पूर्ण संसार सूत-(धागे-)में सूतकी मणियोंकी तरह मेरेमें ही ओतप्रोत है (७।७); जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं (८।२२); सब प्राणी मेरेमें ही स्थित हैं (९।६); हे अर्जुन! तू मेरे इस शरीरके एक देशमें चर-अचर-सहित सम्पूर्ण जगत्को अभी देख ले (११।७); अर्जुनने देवोंके देव भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त सम्पूर्ण जगत्को देखा (११।१३); हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, शंकरजीको, ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूँ (११।१५); आदि-आदि।

(४) सबके मालिक भगवान् हैं—मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर (मालिक) होता हुआ भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ (४।६); जो मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर (मालिक) तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् मानता है, वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है (५।२९); प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें सम्पूर्ण चराचर जगत्को रचती है (९।१०); मूढ़लोग मुझ सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वरको साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं (९।११); सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर्ययुक्त विराट्रूप दिखाया (११।९); आदि-आदि।

(५) सब कुछ भगवान्से ही होता है— सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं (७।१२); बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि बीस भाव मेरेसे ही होते हैं (१०।४-५); मेरेसे ही सारा संसार प्रवृत्त होता है (१०।८); स्मृति, ज्ञान और अपोहन मेरेसे ही होते हैं (१५।१५); परमात्मासे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है (१८।४६); आदि-आदि।

(६) सबके विधायक भगवान् हैं—जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी उपासना करता है, उस उपासनाके फलका विधान मैं ही करता हूँ (७।२२); भक्तोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (९।२२); मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त मेरी कृपासे अविनाशी पदको प्राप्त होता है (१८।५६); ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता हुआ शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको घुमाता है (१८।६१); आदि-आदि।

(७) सबके आराध्य भगवान् ही हैं—तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानको करनेवाले मनुष्य यज्ञोंके द्वारा इन्द्ररूपसे मेरा ही पूजन करते हैं (९।२०); जो मनुष्य अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे वास्तवमें मेरी ही उपासना करते हैं, पर करते हैं अविधिपूर्वक अर्थात् वे उन देवताओंके

रूपमें मुझे नहीं मानते (९।२३); निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं (१२।३-४); आदि-आदि।

(८) सबके प्रकाशक भगवान् हैं—सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें मेरा ही तेज है अर्थात् इनको मैं ही प्रकाशित करता हूँ (१५।१२)।

(९) सब कुछ भगवान् ही हैं—सब कुछ वासुदेव ही है (७।१९); इस सम्पूर्ण जगत्‌की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान तथा अविनाशी बीज मैं ही हूँ (९।१८); सत् और असत् भी मैं ही हूँ (९।१९); हे जगन्निवास! सत् और असत् आप ही हैं तथा सत्-असत्‌से परे भी आप ही हैं (११।३७); आदि-आदि *।

उपर्युक्त सभी उपासनाओंका तात्पर्य यह है कि सबके बीज, आधार, प्रकाशक, स्वामी, शासक एक भगवान् ही हैं; परंतु साधकोंकी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासकी विभिन्नताके कारण उनकी उपासनाओंमें भेद हो जाता है। तत्त्वसे कोई भेद नहीं है; क्योंकि परिणाममें सम्पूर्ण उपासनाएँ एक हो जाती हैं।

जैसे भूख सबकी एक ही होती है और भोजन करनेपर तृप्ति भी सबको एक ही होती है, पर भोजनकी रुचि सबकी अलग-अलग होनेके कारण भोज्य पदार्थ अलग-अलग होते हैं; और जैसे मनुष्योंके वेश-भूषा, रहन-सहन, भाषा आदि तो अलग-अलग होते हैं, पर रोना और हँसना सबका एक ही होता है अर्थात् दुःख और सुख सबको समान ही होते हैं। ऐसे ही भगवत्प्राप्तिकी भूख (अभिलाषा) और भगवान्‌की अप्राप्तिका दुःख सभी साधकोंका एक ही होता है और साधनकी पूर्णता होनेपर भगवत्प्राप्तिका आनन्द भी सबको एक ही होता है, पर साधकोंकी रुचि, योग्यता और विश्वास अलग-अलग होनेसे उपासनाएँ अलग-अलग होती हैं।

उपासनाके आरम्भमें साधकके भाव और योग्यताकी प्रधानता होती है और अन्तमें (सिद्धिमें) तत्त्वकी प्रधानता होती है। भाव और योग्यता तो व्यक्तिगत हैं, पर तत्त्व व्यक्तिगत नहीं है, प्रत्युत सर्वगत है।

भगवत्प्राप्तिका सर्वोच्च साधन—भगवान्‌में अपनापन

(डॉ॰ श्रीबद्रीप्रसादजी गुप्ता)

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ही मनुष्यका मुख्य उद्देश्य है। इसीके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है। वास्तवमें हम सब परमात्माके हैं और यह संसार भी परमात्माका ही है। भगवान्‌की सत्ताको माननेपर भगवान्‌में विश्वास हो जाता है। संसारका विश्वास टिकता नहीं, क्योंकि हमें इस बातका पता है कि वस्तु, व्यक्ति आदि पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और अब भी निरन्तर नाशकी ओर जा रहे हैं। जैसे भगवान्‌पर विश्वास होता है, ऐसे ही भगवान्‌के सम्बन्धपर भी विश्वास होता है कि भगवान् हमारे हैं। भगवान् कैसे हैं, मैं कैसा हूँ—यह बात वहाँ नहीं रहती। भगवान् मेरे हैं, अतः मुझे अवश्य मिलेंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास रहता है। भगवान्‌में 'मेरा'पन बड़े-बड़े साधनोंसे ऊँचा है। त्याग, तपस्या, व्रत, उपवास, तितिक्षा आदि जितने भी साधन हैं उन सबसे ऊँचा साधन है—भगवान्‌में अपनापन। जैसे बच्चा रोने लग जाय तो माँको उसका कहना मानना पड़ता है। इसी तरह मनुष्य रोने लग जाय कि भगवान् मेरे हैं तो फिर दर्शन क्यों नहीं देते? मुझसे मिलते क्यों नहीं? भीतरसे ऐसी जलन पैदा हो जाय, ऐसी उत्कण्ठा हो जाय कि भगवान् मिलते क्यों नहीं? इस जलनमें, उत्कण्ठामें इतनी शक्ति है कि अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं, कोई भी दोष नहीं रहता, निर्दोषता आ जाती है। इस व्याकुलतामें भूख और नींद भी नहीं सुहाती। ऐसी व्याकुलता हो जानेपर भगवत्प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है।

मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—इस बातको दृढ़तासे माननेपर भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। लेकिन इसका दूसरा पक्ष भी है कि मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है। अपनेपनमें अनन्यता महत्त्वपूर्ण है। मीराका अनन्यभाव था—*'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'* अनन्यतामें यह मानना आवश्यक है कि मैं भगवान्‌का हूँ, संसारका नहीं। संसारमें

* यहाँ उपासनाके जो अलग-अलग नौ प्रकार बताये गये हैं, इनमेंसे कई प्रकार गीतामें कहीं-कहीं एक ही श्लोकमें आ गये हैं।

हमारा कुछ नहीं है। जब हम आये तब अपने साथ कुछ लाये नहीं और जब जायँगे, तब अपने साथ कुछ ले जायँगे नहीं। अतः हमारा कुछ भी नहीं है।

हम सांसारिक तथा नाशवान् वस्तुओंको अपना मान लेते हैं और इनपर अधिकार जमाना चाहते हैं। यह भी मान लेते हैं कि जितने व्यक्ति या वस्तुएँ हमारे आधिपत्यमें होंगी, उतने ही हम बड़े हो जायँगे। ऐसा सोचना भूल है। यदि हम धनके या पदके कारण बड़े हुए तो बड़प्पन उस वस्तु या पदका हुआ, न कि हमारा। यह तो उस वस्तुके पराधीन होना है। नाशवान् वस्तुओंको अपनी मानकर हम फँस जाते हैं, बँध जाते हैं और अपने लक्ष्यसे वञ्चित हो जाते हैं।

जब मैं भगवान्का हो गया तो मकान, धन, सम्पत्ति, परिवार सब भगवान्के हो गये। काम भी मैं भगवान्का ही करता हूँ, प्रसाद भी भगवान्का ही पाता हूँ और इस प्रसादसे भगवान्के जनोंकी सेवा करता हूँ। भगवान्के हर विधानमें प्रसन्न रहता हूँ। यह भगवान्के प्रति पूर्ण समर्पण है। यही शरणागति है। हम भगवान्के हो जाते हैं तो भगवान्की सृष्टिके साथ उत्तम-से-उत्तम बर्ताव करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। परिवारके जो व्यक्ति हैं—माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि—इनकी सेवा अच्छी-से-अच्छी करें, किंतु बदलेमें उनसे कुछ चाहें नहीं—कुछ भी आशा न करें। भगवान्ने हमें यह कर्तव्य सौंपा है कि हम परिवारकी सेवा करें। ऐसा भाव रहेगा तो उनके साथ बर्ताव बड़ा अच्छा होगा। त्याग, हित और सेवाका बर्ताव होगा। अतः हम भगवान्के होकर भगवान्का काम करें तो व्यवहार तो शुद्ध होगा ही, हमारा परमार्थ भी सिद्ध हो जायगा।

परिवार या संसारका कोई भी व्यक्ति हो उसके साथ ममता नहीं रखनी है। उसे अपना नहीं, ठाकुरजीका मानना चाहिये। ठाकुरजीका मानकर सेवा करेंगे तो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होंगे।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

(गीता १२।१३)

परिवारको संसारका माननेसे 'कर्मयोग' हो जायगा। ये प्रकृतिके हैं—ऐसा माननेसे 'ज्ञानयोग' हो जायगा। ये ठाकुरजीके हैं—ऐसा माननेसे 'भक्तियोग' हो जायगा। ये मेरे हैं ऐसा माननेसे 'जन्म-मरण-योग' हो जायगा। इस तरह जन्म-मरणके साथ सम्बन्ध हो जायगा।

'हम परमात्माके हैं'—ऐसा जबतक नहीं मानेंगे, तबतक हम परमात्माके होते हुए भी लाभ नहीं ले सकेंगे। जबतक विमुख रहेंगे, तबतक शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द नहीं मिलेगा।

दुराचारी-से-दुराचारी व्यक्ति भी यदि भगवान्के भजनमें अनन्यभावसे लग जाय कि 'मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं' तो उसे साधु ही मानना चाहिये। भगवान्को अपना माननेसे पापी-से-पापीका भी कल्याण हो सकता है। कोई कैसा भी दुराचारी हो भगवान् यह नहीं कह सकते कि यह मेरा नहीं है। पापीको वे दण्ड देकर सुधार लेते हैं।

अनन्य-भाव रखकर जो भगवान्का स्मरण करता है, उसके लिये भगवान् सुलभ हैं। भगवान् कहते हैं कि उस पुरुषको मैं सुलभतासे मिल जाता हूँ। इसमें क्रिया कुछ नहीं है। केवल भाव बदलना है कि 'मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' थोड़ी-थोड़ी देरमें कहते रहें—'हे नाथ ! मैं आपको भूलूँ नहीं।' यही शरणागति है। शरणागतको भगवान् अभय कर देते हैं।

'हम भगवान्के हैं और भगवान् हमारे हैं'—इन दोनों सम्बन्धोंमें भी 'हम भगवान्के हैं' यह भाव अधिक ऊँचा है। ऐसा माननेपर भगवान् जो विधान करें—सुखदायी या दुःखदायी, सब हमारे लिये प्रसन्नताका कारण होगा। हम सदा आनन्दमें रहेंगे।

किसी-न-किसीका सहारा लेना मनुष्यमात्रका स्वभाव है। लेना तो चाहिये भगवान्का आश्रय, पर उसकी जगह दूसरी चीजका सहारा ले लेता है। धनका, परिवारका, विद्याका, योग्यताका, बलका आश्रय ले लेता है; पर यह आश्रय टिकता नहीं। आश्रय तो परमात्माका ही लेना चाहिये—यह बात लोग मानते तो हैं, पर दूसरा आश्रय छोड़ते नहीं। यह वहम हो गया है कि सांसारिक चीजोंका आश्रय छोड़नेसे हम कैसे रहेंगे। नाशवान् संसारका आश्रय सर्वथा छोड़े बिना परमात्माका आश्रय पूरा नहीं माना जाता। पूरा आश्रय लिये बिना पूरी शक्ति नहीं मिलती। हम भगवान्का जितना आश्रय लेंगे उतना हमको आश्वासन मिलेगा, शक्ति मिलेगी, लाभ

मिलेगा। जैसे पतिव्रता पतिके आश्रित रहती है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के आश्रित रहते है। जीव जब संसारका आश्रय लेता है तभी दुःख पाता है।

भगवान्‌से अपनापन होनेपर भगवान्‌में प्रेम हो जाता है, जैसे बालकको अपनी माँ प्रिय लगती है। अपनापन करनेकी एक सरल युक्ति है कि भगवान्‌के साथ कोई सम्बन्ध जोड़ लें। भगवान्‌को स्वामी, बाप, सखा, पुत्र, भाई कुछ भी मानें अपनी रुचिके अनुसार। भगवान्‌को सब कुछ स्वीकार है। सम्बन्ध मात्रसे जीवमें महान् पवित्रता आ जाती है। जीवमें कोई कमी होती भी है तो भगवान् उसे दूर कर देते हैं। अपनेपनसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। प्रेम होनेपर भगवान्‌का हर समय स्मरण-चिन्तन होना स्वाभाविक है। हर समय स्मरण होना ही ध्यान कहलाता है। अपनेपनके भावसे जो ध्यान होता है, वह नैरन्तर्य ध्यान है। इसमें न कोई क्रिया है और न परिश्रम।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधनका लक्ष्य एक होना चाहिये कि हमें तो केवल परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति करनी है। ऐसा एकमात्र लक्ष्य हो और उसमें दृढ़ता हो—यह बहुत आवश्यक है। उद्देश्य मनुष्यकी प्रतिष्ठा है। जिसका कोई उद्देश्य नहीं, वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। वास्तवमें तो उद्देश्य बनानेकी अपेक्षा उद्देश्यको पहचानना श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही यह मनुष्य-शरीर दिया है। उद्देश्यके कारण ही मनुष्य-शरीरकी महिमा है। जिसका उद्देश्य भगवत्प्राप्तिका बन गया, वह जगह-जगह भटकेगा नहीं, लोभ या भयसे विचलित नहीं होगा। साधकका उद्देश्य जब दृढ़ हो गया तो भगवान्‌में अपनापन भी स्वतः हो जाता है और परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति भी सुगमतासे हो जाती है।

भगवत्कृपाकी अद्भुत महिमा

(श्रीबनवारीलालजी गोयन्का)

(१) जिसने भगवत्कृपाका पूरा-पूरा आश्रय ले लिया, उसके लिये लौकिक और पारलौकिक कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उसे उपलब्ध न हो सके।

(२) भगवत्कृपा महान्-से-महान् मलिन प्राणीको भी क्षणभरमें शुद्ध करके भगवान्‌से मिलने योग्य बना देती है।

(३) भगवत्कृपा असम्भवको भी सम्भव कर डालती है।

(४) जिसने भगवत्कृपाका सहारा ले लिया, उसके लिये चिन्ता नामकी वस्तु नहीं रह जाती।

(५) जैसे कोई नौकामें बैठकर बड़े-से-बड़े जलाशयको भी पार कर लेता है, वैसे ही भगवत्कृपासे साधक संसाररूपी समुद्रको अनायास ही पार कर जाता है।

(६) जिसने केवल भगवान्‌की कृपाका सहारा लिया और अन्य सहारोंको त्याग दिया, उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।

(७) हम सब भगवत्कृपा पानेके अधिकारी हैं।

(८) भगवत्कृपामें ऐसी चमत्कारी दिव्य शक्ति है कि वह क्षणभरमें भगवान्‌से मिला देती है।

(९) भगवत्कृपासे भगवान्‌में विशुद्ध अनुराग पैदा हो जाता है।

(१०) जिसने अपना बल न लगाकर केवल भगवान्‌की कृपाका भरोसा लिया, उसको आश्चर्य होगा कि ये असम्भव कार्य कैसे सम्भव हुए!

(११) जिसके हृदयमें पूरा-पूरा विश्वास है कि मुझे यह कृपा सारे दुःखोंसे तार देगी, उसको आश्चर्य होगा कि ये दुःख उन क्षणोंमें कहाँ चले गये।

(१२) भगवान्‌की कृपा भगवान्‌को मिला देगी और दिव्य अलौकिक प्रेम दे देगी।

(१३) भगवान्‌की कृपा माननेवालेका मानव-जीवन सफल होकर ही रहेगा।

भक्तगाथा—

भक्त नवीनचन्द्र

जगदीशपुरके पास बलाई गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण बड़े सदाचारी, भगवद्भक्त और संतोषी थे। उनका नाम था—शरद ठाकुर। ब्राह्मणी भी बड़ी सुशीला और सती थी। यजमानी बहुत थी। बहुत बड़े-बड़े आदमी उनके शिष्य थे। उस समय जैसे ब्राह्मण पुरोहित सदाचारी और विद्वान् होते थे, वैसे ही उनके शिष्य यजमान भी श्रद्धालु और उदार होते थे। शरद ठाकुरको यजमानोंके यहाँसे बिना ही माँगे काफी धन मिलता था। खर्च था बहुत कम, इससे उत्तरोत्तर उनका वैभव बढ़ता ही जाता था। शरद ठाकुरके एकमात्र पुत्र था नवीनचन्द्र। नवीनचन्द्र सरल-हृदय था, परंतु माता-पिताका इकलौता पुत्र होनेसे उसपर कोई शासन नहीं था। घरमें धनकी प्रचुरता थी ही। विष्ठापर भिनभिनानेवाली मक्खियोंके समान नवीनके विलास-वैभवको देखकर उससे लाभ उठानेके लिये आवारे दुराचारी लड़कोंका दल उसके आस-पास आ जुटा। संगका रंग चढ़ता ही है। नवीनपर भी कुसंगका असर पड़े बिना न रहा। माता-पिता दुलारके कारण कुछ बोल नहीं सके।

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

'जवानी, धन-सम्पत्ति, घरमें मालिकी और मूर्खता—इनमें एक-एक ही अनर्थ करनेवाली है, फिर जहाँ चारों हों, वहाँ तो कहना ही क्या है।' नवीनचन्द्र भी इसीके अनुसार अनर्थकी राहपर जा चढ़ा। कुछ समय तो यों बीता, परंतु जब अनीतिकी बाढ़ जोरकी हो गयी, तब शरद ठाकुरका माथा ठनका। उन्हें पुत्रकी करतूतोंपर बड़ा दुःख हुआ और पछतावा हुआ अपनी लापरवाहीपर। वे सोचने लगे—'यदि मैं पहलेसे ही सावधान रहता तो नवीनकी यह हालत न होती। पर अब क्या किया जाय। नवीन अब मेरे कहनेसे ही मान लेगा, ऐसी सम्भावना तो रही नहीं।' शरद ठाकुर चिन्तामें पड़ गये। उन्होंने पत्नीसे सारा हाल कहा। वह भी बेचारी सोच करने लगी। पर कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा। दोनों कातर होकर भगवान्को पुकारने लगे।

भगवान् भक्तवत्सल हैं, उन्होंने भक्त शरद ठाकुरकी पुकार सुन ली। कुछ ही दिनों बाद घूमते-फिरते शिवेन्द्र स्वामी नामक एक महात्मा बलाई गाँवमें पधारे और चातुर्मासका व्रत लेकर वहीं नदीके तटपर एक पेड़के नीचे ठहर गये।

महात्मा पहुँचे हुए थे। गाँवके नर-नारी दर्शनके लिये आने लगे। वे दिनभर मौन रहकर ध्यान करते। केवल एक घंटा मौन खोलते। महात्माजीकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। आस-पासके गाँवोंसे भी दर्शनार्थी आने लगे। शरद ठाकुर भी जाते। एक दिन शरद महात्माजीको नवीनका हाल सुनाकर रोने लगे। महात्माजीने कहा—घबराओ नहीं। उसके संस्कार बड़े अच्छे हैं, वह बड़ा भक्त होगा। एक बार उसे मेरे पास ले आओ।' शरदको बड़ा आश्वासन मिला।

नवीनको समझा-बुझाकर शरद ठाकुर उसे महात्माजीके पास लाये। महात्माजीने उसके मस्तक और पीठपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! मेरी बात मानोगे न?' नवीनने मन्त्रमुग्धकी तरह कहा—'हाँ भगवन्! अवश्य मानूँगा।'

'तो आजसे यहाँ रोज आया करो।'

'आऊँगा भगवन्!'

'यहीं रहना होगा।'

'रहूँगा भगवन्!'

'पर मेरे पास रहनेवालेको मेरी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं।'

'करूँगा भगवन्! बतलाइये क्या शर्तें हैं?'

'शराब कभी न पीना, झूठ न बोलना, सूर्योदयसे पहले उठना, संध्या करना, अग्निहोत्र करना, माँ कात्यायनीकी पूजा करना, उनके **'ह्रीं श्रीं कात्यायन्यै स्वाहा'** मन्त्रका नित्य विधिपूर्वक जप करना, हविष्यान्न खाना बस, यही आठ शर्तें हैं।' 'जो आज्ञा। मैं पूजा और अग्निहोत्रका सामान ले आऊँ?' 'सामान सब मैं मँगवा दूँगा' महात्माजीने नवीनसे ऐसा कहकर शरद ठाकुरको सामान लानेके लिये संकेत किया। उसी समय सारा सामान आ गया। नवीन वहीं रहने लगा। उसी क्षणसे उसका कायापलट हो गया। भगवती कात्यायनीकी पूजा-जप, नियमित संयमपूर्ण जीवन और महापुरुषका सत्संग भगवान्की बड़ी कृपासे नवीनचन्द्रको सारी सामग्री सहज ही मिल गयी। कुछ ही दिनोंमें उसका चेहरा शुक्लपक्षके नवीन चन्द्रकी भाँति चमकने लगा।

एक दिन नवीनने कहा—'भगवन्! आपने इतनी दया

की है तो एक और कीजिये। मुझे संन्यासकी दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।' महात्माजी बोले—'बेटा! जगदम्बाकी जब जो इच्छा होगी, वही होगा। वे चाहेंगी तो तुम्हें सम्यक् प्रकारसे भोगोंका त्यागी बनाकर अपनी सेवक-श्रेणीमें ले लेंगी। तुम तो बस—बेटा, उन्हींके हो रहो। देखो—तुम्हें पता नहीं है। यहाँके सत्संगसे तुम्हारे दोष, तुम्हारी भोगवासनाएँ दब गयी हैं, क्षीण भी हुई हैं, परंतु अभी उनका पूरा नाश नहीं हुआ है। जगदम्बाकी कृपासे जब सच्चे विवेककी आग जलेगी, तब अपने-आप ही सारी भोगवासनाका कूड़ा जल जायगा। बेटा! जैसे एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार भोग-वासनाके रहते वैराग्य नहीं हो पाता और जबतक वैराग्य नहीं होता, तबतक त्यागके स्वाँगका क्या मूल्य है? भोगोंसे उत्पन्न दुःखोंसे घबड़ाकर कभी-कभी जो विरक्ति होती है, वह असली वैराग्य नहीं है। न आवेशमें आकर घर छोड़नेका नाम ही सच्चा वैराग्य है। धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदि भोगोंकी वासना मनमें छिपी रहती है, और समय-समयपर बहुत बड़े-बड़े प्रलोभन सामने रखकर साधकको डिगानेकी चेष्टा करती है। यह तो सत्य है ही—भोग हर हालतमें दुःख ही उपजाते हैं। परंतु मा जगदम्बाकी कृपा बिना भोग-वासनासे छुटकारा मिलना बहुत ही कठिन है। तुम माको प्रसन्न करो। मा प्रसन्न होकर जब जो आज्ञा दें, वही करो। मा तो प्रसन्न ही हैं। पुत्र कितना ही कुपूत हो, माका स्नेहभरा हृदय कभी नहीं सूखता। माकी गोद तो संतानके लिये सदा ही खाली है। बस, जब तुम माकी—एकमात्र माकी गोदमें बैठना चाहोगे, तभी मा प्रत्यक्ष होकर तुम्हारे सामने आकर तुम्हें अपनी गोदमें उठा लेंगी। हृदयसे चिपटा लेंगी। बेटा! धैर्य रखो, माकी महिमा जानकर मा-मा पुकारते रहो। तुम्हारा कल्याण होगा। माके और बच्चेके बीचमें तीसरेकी जरूरत नहीं है, वे तुम्हारी मा, तुम उनके बच्चे!'

महात्माजीके वचनोंको सुनकर नवीनका हृदय भर आया, उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। वह अनन्यभावसे जगदम्बाकी सेवा करने लगा। शरद ठाकुर और उनकी पत्नी—दोनों ही पुत्रके परिवर्तनपर बड़े प्रसन्न थे।

भजन करते-करते नवीनका अन्तःकरण पवित्र हो गया। वे भजनकी मूर्ति बन गये। माका ध्यान करते-करते कभी रोते, कभी हँसते, कभी नाचते और कभी मा-मा पुकारकर इधर-उधर दौड़ने लगते। बैठ जाते तो अखण्ड समाधि ही लग जाती।

एक दिन प्रातःकाल जगदम्बा कात्यायनी स्वयं प्रकट हो गयीं। नवीनने आँखें खोलकर देखा—बड़ा शुभ्र प्रकाश है। माता मृगराजपर सवार हैं, प्रसन्न मुखमण्डल है, सुन्दर तीन नेत्र हैं, गलेमें सुन्दर हार हैं, भुजाओंमें रत्नोंके बाजूबंद और कड़े हैं। सुन्दर जटापर मनोहर मुकुट है। चरणोंमें नूपुर बज रहे हैं। दिव्य रेशमी वस्त्र धारण किये हुए हैं। मस्तकपर अर्धचन्द्र शोभा पा रहा है। करोड़ों चन्द्रमाओंके समान देहकी सुशीतल समुज्ज्वल प्रभा है। दस हाथ हैं—जिनमें खड्ग, खेटक, वज्र, त्रिशूल, बाण, धनुष, पाश, शङ्ख, घण्टा और पद्म सुशोभित हैं। माके वात्सल्यपूर्ण नेत्रोंसे मधुर स्नेहामृतकी धारा बह रही है। होठोंपर मीठी मुसकान है। मानो संतानको अभय करके अपनी गोदमें लेकर नित्यानन्द प्रदान करनेके लिये आँचल पसारे खड़ी हैं।

नवीन माताकी मुखमुद्रा देखकर निहाल हो गये। आनन्दके आँसू बहने लगे। शरीर पुलकित हो गया। वाणी रुक गयी। बहुत देर बाद माताकी प्रेरणासे धीरज आनेपर नवीनने माका स्तवन किया। माताने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और मस्तकपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! तू धन्य हो गया। तेरे गुरुजी आज अदृश्य हो जायँगे। तू पूर्वजन्ममें मेरा भक्त था। गुरुजी तेरे पिता थे। वे मेरी कृपाको प्राप्त कर चुके। तू किसी प्रतिबन्धकवश जगत्में आया था। गुरुजीको मैंने ही भेजा था। अब तू मेरी कृपासे कृतकृत्य हो गया। मेरी आज्ञासे घर जाकर विवाह कर और जीवनमें मेरी सेवा करता हुआ अन्तमें मेरे सच्चिदानन्दधाममें प्रवेश कर जा। तेरी भावी पत्नी भी मेरी सेविका है। तू घरमें रहकर भी जलमें कमलकी भाँति असंग ही रहेगा।' इतना कहकर माता अन्तर्धान हो गयीं।

नवीनने देखा, गुरुजी भी अदृश्य हो गये हैं। नवीन माताकी आज्ञाके अनुसार घर चला आया और पिता-माताको सारी कथा कह सुनायी। उनके आनन्दका कोई ठिकाना न था, बड़े उत्साहके साथ तारा नामकी सुशीला कन्यासे नवीनचन्द्रका विवाह हुआ। तारा और नवीन दोनों मातृमन्त्रमें दीक्षित होकर जीवनभर माका भजन करते रहे।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—

सूर्य-किरण-चिकित्सा

(डॉ॰ बी॰ एम॰ वैष्णव)

सूर्य-किरण-चिकित्सामें सूर्यद्वारा पृथिवीपर पड़नेवाली सूर्यकी किरणोंके प्रकाशद्वारा चिकित्सा की जाती है। सूर्यकी किरणोंमें सात रंग पाये जाते हैं। इन रंगोंका शरीरपर प्रभाव कम या अधिक होनेपर किसी बीमारीकी ओर संकेत करता है। सूर्य-किरण-चिकित्सामें सूर्यकी किरणोंके प्रकाशसे प्राप्त रंगको किसी माध्यमके द्वारा बीमार शरीरमें पहुँचाकर इस कमीकी पूर्ति करनेको ही 'सूर्य-किरण-चिकित्सा' कहते हैं। इसके अन्तर्गत सूर्यद्वारा निकली किसी भी किरणकी शक्तिको उसी रंगके पारदर्शक माध्यमद्वारा जल, तेल, वायु, ग्लिसरीन, शक्कर या मिश्री आदिमें उतारकर सुस्थिर कर उसे ओषधिकी तरह सेवन कराकर असाध्य-से-असाध्य रोगको दूर किया जाता है। मानव-शरीर पृथिवी, जल, वायु तथा अग्नि या तेज और आकाशसे मिलकर बना है। इन्हींकी न्यूनता या अधिकता होनेपर शरीर अस्वस्थ होता है। इन तत्त्वोंकी पहचान-हेतु नेत्र, नाखून, मल-मूत्र तथा पसीनेके रंग आदिका परीक्षण किया जाता है।

पञ्चतत्त्वोंके रंग जिस प्रकार मुख्य रूपसे तीन होते हैं, वैसे ही सूर्यकी सप्तरश्मियोंमें इन्हीं रंगोंकी प्रधानता होती है। ये नीले, पीले तथा लाल रंगके होते हैं। इन रंगोंका प्रतिबिम्ब हम वर्षाऋतुमें इन्द्रधनुषके रूपमें आकाशमें देखते हैं। मनुष्यके शरीरमें जिस रंगकी न्यूनता या अधिकता होगी, उसी रोगसे वह पीड़ित होगा। उसी रंग-विशेषको इस पद्धतिके रूपमें प्रयोग कराकर रोगमुक्त करना सूर्य-किरण-चिकित्सा-पद्धतिका सिद्धान्त है। यह चिकित्सा सहज, सरल तथा सस्ती है और शीघ्र लाभ पहुँचाती है। इससे समाजके सभी वर्ग गरीब, अमीर, अनपढ़ तथा विद्वान् लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिमें निम्न विधियोंका प्रयोग किया जाता है—

(१) सूर्यकी रंगीन किरणोंको रंगीन शीशोंसे उस अङ्गपर लगाना—इसमें रंगीन काँचके शीशोंसे उस अङ्गपर सूर्य-किरणोंको डालकर या रोगीको रंगीन काँचकी खिड़कियोंके कमरेमें बैठाकर या लिटाकर उसके समूचे शरीरको रोशनीसे नहलाया जाता है। इस विधि-हेतु ताप-प्रकाश-यन्त्र बाजारमें उपलब्ध रहता है। यदि कभी धूप न हो तो उस समय दीपक, लालटेन, बल्ब या टार्च आदिका प्रयोग भी किया जा सकता है।

(२) सूर्यकी किरणोंको जलमें सम्पुटित करके काममें लाना—इसमें सूर्यकी सातों रंगीन किरणोंको उन्हींके रंगोंकी बोतलोंके माध्यमसे जलमें सम्पुटित करना चाहिये। यदि रंगीन बोतल न हो तो सफेद रंगकी बोतलपर सिलोफाइन कागज लपेटकर काम चला सकते हैं। बोतल साफ हो तथा उसे तीन चौथाई जलसे भरकर ढक्कन टाइट लगाकर लकड़ीके पट्टेपर रखे जहाँ ७-८ घंटे धूप आती हो। उस सूर्य-तप्त जलको ७२ घंटे प्रयोगमें ले सकते हैं। मात्राका प्रयोग रोग तथा उम्रको ध्यानमें रखकर करें।

(३) सूर्यकी रंगीन किरणोंको वायुके माध्यमसे प्रयोगमें लाना—इसमें भी रंगीन खाली बोतल काममें आती है। खाली बोतलको कार्क लगाकर २ घंटेतक धूपमें रखे। इसमें उपस्थित हवाको नाकद्वारा या मुँहद्वारा शरीरमें प्रवेश कराये। इसे १०-१५ मिनटके अन्तरसे २४ घंटेमें ३-४ बार प्रयोगमें लाये।

(४) सूर्यकी रंगीन किरणोंको तेलमें उतारकर प्रयोग करना—इसमें जलकी जगह तेल प्रयोगमें लाये। बोतलमें तेल भरकर गर्मियोंमें ३०-४० दिनोंतक तथा सर्दियोंमें ६० दिनोंतक धूपमें रखनेपर तैयार होता है। इसमें आम तौरपर सरसों या जैतूनका तेल प्रयोगमें लाया जाता है। दन्त-रोगमें तिलका तेल हरे रंगकी बोतलमें तैयार करे। हरी बोतलमें चर्मरोग तथा समयसे पूर्व बाल सफेद होनेपर भी इसी तेलका प्रयोग करे।

(५) रंगीन किरणोंद्वारा तप्त जलसे भीगे कपड़ेकी पट्टी लगाकर रोगोंको दूर करना—इसमें शरीरके अङ्ग-विशेषपर पानीसे भिगोकर पट्टी की जाती है। पूरे शरीरपर भी कर सकते हैं। इसी तप्त जलको मिट्टीमें प्रयोग कर मिट्टीकी पट्टीका लेप भी किया जा सकता है।

(६) सूर्यकी रंगीन किरणोंके विशेष ... १५ दिनतक

धूपमें रखनेके बाद दवाके रूपमें तैयार करना चाहिये।

रोगावस्थामें शरीरपर किस तत्त्वकी कमी या बेशी है इसको जाननेके लिये हमें सर्वप्रथम पञ्चतत्त्वोंके रंग, आधार एवं स्वादको जानना होगा, जो निम्न प्रकार है—

नाम तत्त्व	तत्त्व-रंग	आकार	स्वाद
आकाश	नीला	बूँद-बूँद-जैसा	कड़वा
वायु	नीला	षट्कोण-सदृश	खट्टा
जल	नीला	अर्धचन्द्राकार	कसैला
पृथिवी	पीला	चौकोर	मीठा
अग्नि	लाल	त्रिकोण	चटपटा

शरीरमें किस तत्त्वकी न्यूनता या अधिकता है, इसे सामान्य रूपसे निम्न विधियोंद्वारा जाना जा सकता है—

(१) हाथके दोनों अँगूठोंसे कानके दोनों छिद्रोंको, बीचकी दोनों अँगुलियोंसे नाकके नथुनों, दोनों अनामिका और दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंसे मुँह तथा दोनों तर्जनियोंसे दोनों आँखें बंद करके जिस तत्त्वका रंग दिखायी दे, शरीरमें उसी तत्त्वकी अधिकता होती है।

(२) किसी दर्पणपर जोरसे श्वास मारनेपर उसकी भापसे दर्पणपर जिस तत्त्वका आकार बन जाय, शरीरमें उसी तत्त्वकी अधिकता समझनी चाहिये।

(३) मुँहमें जिस समय जिस तत्त्वका स्वाद हो शरीरमें उस समय उसी तत्त्वकी प्रधानता समझनी चाहिये।

(४) रोगीके सामने विविध प्रकारके रंगोंको रखकर या अनेक रंगोंकी वस्तुओंको दिखाकर उससे पूछे कि इन रंगोंमेंसे कौन-सा रंग विशेष प्रिय है। जो रंग उसे प्रिय हो, उसी रंगकी कमी उसके शरीरमें समझनी चाहिये। इसके विपरीत जिस रंगको वह सबसे बुरा बताये उस रंगकी अधिकता माने।

सूर्यकी किरणोंमें सात रंग होते हैं—बैगनी, आसमानी, (हलका नीला), नीला-हरा, हरा, पीला, नारंगी तथा लाल रंग। वास्तवमें मूल रंग तीन ही हैं—लाल, पीला और नीला। शेष इन्हीं रंगोंके परस्पर मिश्रणसे बनते हैं। साधारणतया निम्न तीन रंगोंकी सहायतासे अनेक रोगोंकी चिकित्सा सफलता-पूर्वक करते हैं।

(१) नारंगी रंग—यह रंग गर्म, उत्तेजक, शक्तिदायक एवं विस्तारक होता है। यह कफजन्य या सर्दीके प्रकोपसे होनेवाले रोगोंमें विशेष लाभदायक है। मानसिक प्रभावकी दृष्टिसे साहस, उत्साह और इच्छाशक्तिको बढ़ानेवाला है। आयोडीनकी कमीकी पूर्ति करता है। रक्तमें हीमोग्लोबिन बढ़ाता है, मांसपेशियोंको स्वस्थ बनाता है और झुर्रियाँ मिटाता है तथा जिगर, गुर्दे, आँतें, मूत्राशयकी शिथिलता दूर करता है। महिलाओंके मासिक स्राव कम होने या दर्दके साथ होने, बच्चोंका बिस्तरमें मूत्रस्राव करने आदि रोगोंमें लाभदायक है। इस रंगकी अधिकता होनेपर उलटी, दस्त, मरोड़, आँतकी खुश्की, प्यासकी अधिकता, उदरशूल आदि शिकायतें पैदा होती हैं। इसकी कमी होनेपर सुस्ती, जम्हाई आना, नींद अधिक आना, भूखकी कमी, नाखूनका नीला होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) हरा रंग—इसकी प्रकृति मध्यम, नीले तथा लाल रंगोंके बीच संतुलन करनेवाली, शरीरसे विजातीय द्रव्य बाहर निकालनेवाली और रक्तशोधक होती है। मानसिक प्रभावकी दृष्टिसे उत्साहवर्धक, चित्तको प्रसन्न रखनेवाला, ईर्ष्या-द्वेषको कम करनेवाला होता है। यह दूषित तथा विषाक्त पदार्थ—मल-मूत्र, पसीना, बलगम आदिको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंको सशक्त और सक्रिय बनाता है। छूत तथा संक्रामक रोगोंको दूर करता है। रक्त शुद्ध करता, चर्मरोगोंको समूल नष्ट करता है। पुरानी-से-पुरानी और कठिन-से-कठिन कब्जको ठीक करता है। उच्च रक्तचाप, हलका ज्वर और दिलकी तेज धड़कनमें लाभदायक है। यह नेत्र-रोग, आँत, गुर्दे, मूत्राशय, त्वचा, कमर-पीठके नीचेके अङ्गोंपर विशेष प्रभाव रखता है। इसके अधिक प्रयोगसे कोई विपरीत प्रभाव नहीं होता।

(३) नीला रंग—इसकी प्रकृति शीतल, शान्तिदायक, संकोचक तथा कीटाणुनाशक होती है। यह पित्तजनित या गर्मीके प्रकोपके कारणसे उत्पन्न रोगोंमें लाभकारी है। यह मानसिक तनाव दूर करता है, स्नायु-संस्थानका पोषक तत्त्व है। हाथ-पैरमें जलन, तेज बुखार, हैजा, अतिसार, घबराहट, सिरदर्द, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप, मासिकधर्म अधिक होने आदि रोगोंमें पर्याप्त लाभदायक है।

नीले तेलकी सिरपर मालिश करनेपर मस्तिष्कको शान्ति मिलती है। केशोंका झड़ना तथा सफेद होनेपर भी लाभदायक है। यह रंग गला, गर्दन, मुँह, मस्तिष्क एवं सिरपर विशेष प्रभाव रखता है। इसके अधिक प्रयोगसे कब्ज, प्रमेह, पसली-दर्द एवं फेफड़ोंके रोग उत्पन्न होते हैं। कमी होनेपर मूत्रमें रुकावट, शरीरमें दाह, बाल झड़ना, चञ्चलता तथा उत्तेजना एवं क्रोध उत्पन्न होता है। लकवा, संधि, प्रदाह, छोटे जोड़का दर्द, विभिन्न वातरोग, कफजन्य रोग, ठंडसे उत्पन्न विकार और अधिक कब्जकी शिकायतमें नीले रंगका प्रयोग नहीं करना चाहिये। नारंगी तथा नीले रंगकी दवाएँ एक साथ खानी-पीनी नहीं चाहिये, परंतु खानेकी नारंगी रंगकी दवा और मालिशके लिये नीले तेलका प्रयोग किया जा सकता है।

'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' इत्यादि वचनोंसे भगवान् सूर्यकी उपासना, आराधना, सूर्यनमस्कार, संध्योपासन, सूर्यार्घ्य-दान तथा नियमित रूपसे प्रकाश-धूप आदिका सेवन स्वास्थ्यवर्धक एवं आरोग्यकर माना गया है। अनेक चिकित्सा-पद्धतियोंने भी उसका न्यूनाधिक सहयोग लिया है। प्राकृतिक चिकित्सामें वही मुख्य वस्तु है। इससे सम्बन्धित कई प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र हैं, कई पत्र-पत्रिकाएँ तथा ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। यहाँ उन्हींके आधारपर यत्किंचित् अपने ज्ञान एवं सम्भावनाके अनुसार लिखनेका प्रयत्न किया है। विशेष जानकारीके लिये अपने समीपस्थ प्राकृतिक चिकित्सकों और चिकित्सा-केन्द्रोंसे सम्पर्क किया जा सकता है।

भगवान् श्रीरामकी दीन-वत्सलता

ऐसे राम दीन-हितकारी।
अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी ॥
साधन-हीन दीन निज अघ-बस, सिला भई मुनि-नारी।
गृहतें गवनि परसि पद पावन घोर सापतें तारी ॥
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु-समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल-जाति बिचारी ॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी ॥
बिहँग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक-समान क्रिया ताको निज कर सब भाँति सँवारी ॥
अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक-बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥
कपि सुग्रीव बंधु-भय ब्याकुल, आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जनके हत्यो बालि, सहि गारी ॥
रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर, कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी ॥
असुभ होइ जिन्हके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी।
बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ ! तुम्हारी ॥
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दास तुलसीपर, काहे कृपा बिसारी ॥

(विनय-पत्रिका)

व्रत-परिचय

[गताङ्क पृष्ठ-सं० ६७९ से आगे]

(पौषके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) संकष्टचतुर्थी (भविष्योत्तर)—पौष कृष्ण **(चन्द्रोदयव्यापिनी पूर्वविद्धा)** चतुर्थीको गणपति-स्मरणपूर्वक प्रातः स्नानादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् **'मम सकलाभीष्ट-सिद्धये चतुर्थीव्रतं करिष्ये'**—इस प्रकार संकल्प करके दिनभर मौन रहे। रात्रिमें पुनः स्नान करके गणपति-पूजनके पश्चात् चन्द्रोदयके बाद चन्द्रमाका पूजन करके अर्घ्य दे, फिर भोजन करे।

(२) अष्टकाश्राद्ध (आश्वलायन)—पौष कृष्ण अपराह्णव्यापिनी अष्टमीको शास्त्रोक्त-विधिसे अष्टकाश्राद्ध करके ब्राह्मण-भोजन करानेसे उत्तम फल मिलता है और न कराये तो दोष लगता है।

(३) रुक्मिणी-अष्टमी (व्रतकौस्तुभ)—पौष कृष्ण अष्टमीको कृष्ण, रुक्मिणी और प्रद्युम्नकी स्वर्णमयी मूर्तियोंका गन्धादिसे पूजन कर उन्हें उत्तम पदार्थ अर्पण करे और शक्ति हो तो आठ सुवासिनी स्त्रियोंको भोजन करवाकर दक्षिणा दे तो रुक्मिणीजीकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(४) कृष्णैकादशी (पद्मपुराण)—पौष कृष्ण एकादशीको उपवास करके भगवान्का यथाविधि पूजन करे। यह सफला एकादशी है; अतः नैवेद्यमें केला, बिजौरा, जंभीरी, नारियल, दाडिम (अनार) और पूगफलादि अर्पण करके रात्रिमें जागरण करे। प्राचीन कालमें चम्पावतीके माहिष्मान् राजाका लुम्पक नामक पुत्र कुमार्गी होकर धन-पुत्रादिसे हीन हो गया था। कई वर्ष कष्ट भोगनेके बाद एक रोज (एकादशीको) उसने फल बीनकर किसी पुराने पीपलकी जड़ोंमें रख दिये और असमर्थ होनेके कारण खाये नहीं, रातभर जागता रहा। इस प्रकार अनायास किये गये व्रतसे भी भगवान् प्रसन्न हुए और उसे उसके पितासे आदरपूर्वक चम्पावतीका राज्य प्रदान करवा दिया।

(५) सुरूपद्वादशी (व्रतार्क)—पौष कृष्ण पुष्ययुक्त द्वादशीके पहले दिन रात्रिमें जितेन्द्रिय होकर विष्णुका ध्यान करे और सफेद गौके गोबरकी आगमें घृतादियुक्त तिलोंकी १०८ आहुतिका हवन करे और दूसरे दिन द्वादशीको नदी या तालाब आदिपर स्नान करके भगवान्की सुवर्णमयी मूर्तिको तिलपूर्ण पात्रमें रखकर गन्धादिसे पूजन करे तथा तिल, फल आदिका भोग लगाकर **'नमः परमशान्ताय विरूपाक्ष नमोऽस्तु ते'** से अर्घ्य दे और विद्वान् ब्राह्मणको भोजन करवाकर उक्त मूर्ति उसे प्रदान कर दे।

शुक्लपक्ष

(१) आरोग्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—पौष शुक्ल द्वितीयाको गोशृङ्गोदक (गायोंके सींगोंको धोकर लिये हुए जल) से स्नान करके सफेद वस्त्र धारण कर सूर्यास्तके बाद बालेन्दु (द्वितीयाके चन्द्रमा) का गन्धादिसे पूजन करे। जबतक चन्द्रमा अस्त न हो तबतक गुड़, दही, परमान्न (खीर) और लवणसे ब्राह्मणोंको संतुष्ट करके केवल गोरस (छाछ) पीकर जमीनपर शयन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल द्वितीयाको एक वर्षतक चन्द्रपूजन और भोजनादि करके बारहवें महीने (मार्गशीर्ष) में बालेन्दुका यथापूर्व पूजन करे और इक्षुरस (ईखके रस) का घड़ा, सोना और वस्त्र ब्राह्मणको देकर भोजन करे तो रोगोंकी निवृत्ति और आरोग्यताकी प्रवृत्ति होती है और सब प्रकारके सुख मिलते हैं।

(२) विधिपूजा (ब्रह्मपुराण)—पौष शुक्ल द्वितीयाको गुरुवार हो तो प्रातः स्नानादिके अनन्तर यथाविधि ब्रह्माजीका पूजन करके नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे तो उत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(३) उभयसप्तमी (आदित्यपुराण)—पौष शुक्ल सप्तमीको उपवास करके तीनों संधियों (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) में गन्ध, पुष्प और घृतादिसे सूर्यका पूजन करे। और क्षारसिद्ध मोदक निवेदन करे (पकते हुए घीमें नमक डालकर उसे निकाल दे और फिर आटेको सेंककर मोदक बनाये)। ब्राह्मणोंको भोजन कराये, गोदान करे और भूमिपर शयन करे तो सब कामना सफल होती है।

(४) मार्तण्डसप्तमी (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल सप्तमीको मार्तण्ड (सूर्य) का पूजन करके गोदान करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करे तो उत्तम फल प्राप्त होता है।

(५) महाभद्रा (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल अष्टमीको बुधवार हो तो उस दिनके स्नान-दानादिसे शिवजी प्रसन्न होते हैं।

(६) जयन्ती-अष्टमी (निर्णयामृत)—उसी (पौष शुक्लाष्टमी बुधके) दिन भरणी हो तो वह 'जयन्ती' होती है। उस दिन स्नान, दान-जप, होम देवर्षि-पितृतर्पण करनेसे तथा ब्राह्मण-भोजन करानेसे कोटिगुना फल होता है।

(७) शुक्लैकादशी (ब्रह्मवैवर्त)—पौष शुक्ल एकादशी 'पुत्रदा' है। इसके उपवाससे पुत्रकी प्राप्ति होती है। प्राचीन कालमें भद्रावती नगरीके राजा वसुकेतुके पुत्र न होनेसे राजा-रानी दोनों दुःखी थे। उनके मनमें यह विचार उठा कि 'पुत्रके बिना गज, तुरग, रथ, राज्य, नौकर-चाकर और सम्पत्ति—सब निरर्थक है; अतः पुत्रप्राप्तिका उपाय करना चाहिये।' यह सोचकर राजा एक ऐसे गहन वनमें चला गया जिसमें बड़, पीपल, बेल, जामुन, केले, कदम्ब, टेंडू, लीची और आम आदि भरे हुए थे; जहाँ सिंह, व्याघ्र, वराह, शश, मृग, शृगाल और चार दाँतोंके हाथी आदि घूम रहे थे; शुक, सारिका, कबूतर, पपीहा और उल्लू आदि बोल रहे थे और साँप, बिच्छू, गोह और कीट-पतंगादि डरा रहे थे। ऐसे सुहावने और डरावने जंगलमें एक अत्यन्त सुन्दर, मनोहर और मधुरतम जलपूर्ण सरोवरके तटपर मुनिलोग सत्कर्मोंका अनुष्ठान कर रहे थे। उनको देखकर राजाने अपना अभीष्ट निवेदन किया। तब महात्माओंने बतलाया कि 'आज पुत्रदा एकादशी है, इसका उपवास करो तो पुत्र प्राप्त हो सकता है।' राजाने वैसा ही किया और भगवत्कृपासे उसके यहाँ सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ।

(८) सुजन्मद्वादशी (वीरमित्रोदय)—यदि पौष शुक्ल द्वादशीको ज्येष्ठा नक्षत्र हो तो उस दिन भगवान्का पूजन करके घीका दान करे, गोमूत्र पीकर उपवास करे और आगे माघादि महीनोंमें नियत वस्तुका दान और भोजन करके उपवास करे। जैसे माघमें चावलदान, जलप्राशन; फाल्गुनमें जौदान, घृतभोजन; चैत्रमें सुवर्णदान, सुपक्व शाकभोजन; वैशाखमें जौदान, दूर्वाभोजन; ज्येष्ठमें जलदान, दधिभोजन; आषाढ़में सोना, अन्न और जलदान, भातभोजन; श्रावणमें छत्रदान, जौभोजन; भादोंमें दूधदान, तिलभोजन; आश्विनमें अन्नदान, सूर्यकिरणोंसे तपाये हुए जलका भोजन; कार्तिकमें गुड़-फाण्ट-दान, दूधभोजन और मार्गशीर्षमें मलयागिरिचन्दनका दान और दूधका भोजन कर उपवास करे तो कुलमें प्रधानता और घरमें सम्पत्ति होती है।

(९) घृतदान (कृत्यतत्त्वार्णव)—पौष शुक्ल त्रयोदशीको भगवान्का पूजन करके ब्राह्मणको घीका दान दे तो सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं।

(१०) विरूपाक्षपूजन (हेमाद्रि)—पौष शुक्ल चतुर्दशीको विरूपाक्षका पूजन करके तदनुकूल उपकरण महोक्ष (बड़ा बैल—साँड आदि) का दान करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल चतुर्दशीको वर्षभर करनेसे राक्षसादिका भय नहीं होता और घरमें सुख, शान्ति एवं समृद्धिकी वृद्धि होती है।

(११) ईशानव्रत (कालिकापुराण)—पौष शुक्ल चतुर्दशीका व्रत करके पुष्ययुक्त पूर्णमासीको सुश्वेत वस्त्रसे आच्छादित की हुई वेदीपर चारों दिशाओंमें अक्षतोंकी चार ढेरियाँ बनाये। एक वैसी ही मध्यमें बनाये। उनपर पूर्वमें 'विष्णु', दक्षिणमें 'सूर्य', पश्चिममें 'ब्रह्मा' और उत्तरमें 'रुद्र' को स्थापित करे और सबके मध्यमें 'ईशान' की स्थापना करके उत्तम प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और कर्पूरादिसे नीराजन (आरती) करके गोमिथुन (एक गौ और एक बैल) का दान करे। ब्राह्मणोंको भोजन कराये और स्वयं गोमूत्र पीकर उपवास करे। इस प्रकार पाँच वर्ष करनेसे यह व्रत पूर्ण होता है। गोदानमें यह विशेषता है कि पहले वर्षमें एक गौ, एक बैल; दूसरे वर्षमें दो गौ, एक बैल; तीसरेमें तीन गौ, एक बैल; चौथेमें चार गौ, एक बैल और पाँचवेंमें पाँच गौ और एक बैल दान करे। बैल ब्रह्मचारी या साँड हो—खेती आदिमें जोता हुआ न हो तो इस व्रतके करनेसे सब प्रकारका सुख होता है और लक्ष्मी बढ़ती है। (क्रमशः)

—पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बैलने सुख-संतोष प्रदान किया

हमारा छोटा-सा गाँव है—धर्मपुर। जो भोजपुरके अन्तर्गत स्थित है। यहाँ एक व्यक्ति रहते हैं, जिनके पास एक बैल था, जिससे ये दो सालसे निरन्तर जुताईका कार्य ले रहे थे। अत्यधिक परिश्रमसे बैलकी हालत खराब हो गयी और वह कुछ बीमार-सा हो गया। दस कदम भी चलना उसके लिये मुश्किल हो गया। उन्होंने देखा कि अब यह बैल काम करने योग्य रह नहीं गया है, इसे रखनेसे क्या लाभ, उलटे इसकी देख-रेख अलग।

एक दिनकी बात है, उन्होंने उस बैलको कसाईके हाथों १६५ रुपयेमें बेच दिया। कसाई बैल लेनेके लिये जब गाँवमें आया, गाँवके ही एक नाई भाई उस समय संयोगवश वहाँ पहुँचे तो बैल कातर-दृष्टिसे उनको देखने लगा। नाई महोदयका दिल पसीज गया और उन्होंने बैलको कसाईके हाथों न बेचनेका आग्रह किया। इसपर झुँझलाकर वे बोले— 'बड़ी दया दिखाते हो तो तुम्हीं क्यों नहीं इसे खरीद लेते!' फिर क्या था, नाई भाईने अविलम्ब बैलको दस रुपये अधिक देकर एक सौ पचहत्तर रुपयेमें खरीद लिया। कसाईके चंगुलसे बैल छूट गया। वहाँसे उनका घर थोड़ी ही दूरीपर था। बैलको आगे कर वे धीरे-धीरे चलने लगे, किंतु बीमार होनेकी वजहसे बैल थोड़ी ही देरमें बैठने लग जाता। कुछ देर सुस्ता कर फिर वे बैलको लेकर जिस-किसी तरह अपने घर पहुँचे, एक बार तो बैलको देखकर घरके लोग भी बहुत नाराज हुए, पर अन्ततः नाई भाई एवं उनके परिवारके सभी सदस्योंने बैलकी तन-मन-धनसे खूब सेवा की। उन्हें धर्म और ईश्वरपर विश्वास था। बैल लिये हुए लगभग दो महीनेका समय बीता। धीरे-धीरे बैल पूर्ण स्वस्थ हो गया और खेतीका कार्य करने लगा। अब उसका दाम छः सौ रुपयेसे भी अधिक मिल रहा है, पर नाई भाई बैल नहीं बेच रहे हैं, क्योंकि बैलके घरपर आनेसे उन सबको बहुत शान्ति है और उनके यहाँ सुख-समृद्धिका आगमन भी हो रहा है।

अतः भगवान्पर विश्वास रखकर धर्मके अनुसार चलनेमें लाभ-ही-लाभ है। बैल तो साक्षात् धर्मस्वरूप है। धर्मकी रक्षा तथा धर्माचरण करनेसे वह धर्म स्वयं ही उसका परम कल्याण कर देता है, क्योंकि स्वल्प भी धर्मका अनुष्ठान महान्से भी महान् भय, संकट, दुःख-क्लेशसे मुक्ति दिलाकर शाश्वत सुखका मार्ग प्रशस्त कर देता है। इसलिये गो-गोविन्दकी सेवासे अपने जीवनको सफल बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।—जित्येन्द्र

(२)

प्रभु-कृपासे मेरा सामान मिल गया

दिनाङ्क २९-१०-९१ की घटना है। मेरा पुत्र अवधेशकुमार कानपुरसे फास्ट पैसेंजर ट्रेनद्वारा फर्रूखाबाद आ रहा था। मार्गमें वह रावतपुर स्टेशनपर किसी कार्यवश उतरा। इतनेमें ही ट्रेन चल पड़ी, दुर्भाग्यसे वह ट्रेन न पकड़ सका। उसका एक ब्रीफकेस एवं बीस किलो तुलसीभोग चावल ट्रेनमें ही छूट गया। मुझे बादमें ज्ञात हुआ कि जहाँपर वह बैठा था, वहाँ खाली स्थान देखकर एक सज्जन आकर बैठ गये। उन्होंने सीटके पास पड़ा सामान देखा और लोगोंसे सामानके बारेमें पूछा तो सभीने एक स्वरसे इनकार कर दिया। तब उन्होंने सामानको अपने अधिकारमें ले लिया। कुछ देर बाद एक युवकने वहाँ आकर कहा कि यह सामान मेरे साथीका है। मुझे दे दो, परंतु उन्होंने कहा—जब वह आ जायगा तब मैं दे दूँगा, परंतु कासगंजतक उन्हें कोई न मिला और वे उस सामानको अपने घर लेते गये।

घर आकर उन महाशयने अटैचीको खोलकर देखा तो उसमें रामदरबार, शिव तथा ओम्का स्टीकर लगा पाया और विश्व-मानव-धर्मकी पुस्तक भी पायी। पुस्तकके बीचमें उन्हें एक लिफाफा मिला, जिसपर 'भारतीय स्टेट बैंक, सराय प्रयाग' लिखा था एवं पुस्तकपर मेरा नाम भी लिखा था। फिर क्या था, उन्होंने अपने पड़ोसी डॉक्टर अशोककुमारजीसे सलाह की और एक पत्र उसी दिन मेरे पतेपर भेज दिया, परंतु दैवयोगसे वह पत्र मुझे न मिल सका। फिर दूसरा पत्र भेजा, जो मुझे दिनाङ्क ९-११-९१ को मिला, शनिवारका दिन था। मैंने पत्र अपने साथियोंको दिखलाया। पत्र देखकर सभी बैंकवाले भौंचक्के रह गये और कहने लगे—बड़े भाग्यशाली हैं आप, जो आपका खोया हुआ सामान वापस मिल रहा है।

मुझे भगवान्पर पूरा विश्वास था और मन-ही-मन ऐसा लगता था कि मेरा सामान अवश्य मुझे मिल जायगा। प्रसन्न मनसे मैं घरपर आया तो सारा वृत्तान्त जानकर हमारे पड़ोसी, रिश्तेदारों एवं मित्रोंमें खुशीकी लहर दौड़ गयी। सभी लोग कहने लगे आप तो पूरे भक्त हैं, भगवान्की कृपासे ही आपको खोया हुआ सामान पुनः मिल रहा है। नहीं तो आजके समयमें अब कहाँ ईमानदारी रह गयी है। मैं दूसरे ही दिन रविवारको प्रातः पैसेंजर ट्रेनसे डॉक्टर श्रीअशोककुमारजीकी दूकानपर पहुँचा। वे बड़े ही साधु-स्वभावके थे।

डॉक्टर साहबने उन महोदयका दर्शन करवाया, जिनका नाम था—नन्दकिशोर शर्मा। वे अवकाश-प्राप्त प्रधानाचार्य थे। बहुत ही आदर-सत्कारके साथ उन्होंने स्वागत किया और मेरा सम्पूर्ण सामान वापस कर दिया तथा ट्रेनमें हुई सारी घटना भी मुझे बतला दी। उनकी महत्तासे मैं कृतज्ञ हो गया, जिन्होंने मुझे एक बहुत बड़ी आपत्तिसे उबार लिया, क्योंकि उस अटैचीमें ड्राफ्ट, गैसके कागज तथा बहुतसे आवश्यक कागज थे। मैं उन सज्जनका आभार प्रकट करते हुए वापस अपने घर चला आया। प्रभुने मेरी बाधा हर ली थी और मुझे लगा कि इस कलिकालमें आज भी ईमानदार लोगोंका अभाव नहीं है और प्रभुपर पूर्ण विश्वास रखा जाय तो उनकी कृपा अवश्य बरसती है तथा सारे संकट दूर हो जाते हैं। इसलिये हर समय भगवत्कृपाका अवलम्बन रखना चाहिये। -नन्दकिशोर शुक्ल

(३)

निरालम्बके अवलम्ब

यह बात सन् १९८० ई०के जून माहकी है। उज्जैन-कुम्भसे लौटनेके बाद हमारा विचार श्रीबद्रीनाथ, श्रीकेदारनाथ, यमुनोत्तरी-गङ्गोत्तरी आदि पवित्र तीर्थोंकी यात्रा करनेका हुआ। चार महात्माओंको साथ लेकर हम टिमरनी स्टेशनसे पठानकोटके लिये रवाना हुए। प्रथम हरिद्वार तथा ऋषिकेशके दर्शन किये। ऋषिकेशसे हम सभी क्रमशः चारों धामोंकी यात्रा करना चाहते थे, किंतु बस मिलनेमें व्यवधान हुआ, फलतः ट्रकसे ही यात्रा करनेका निश्चय किया। सर्वप्रथम श्रीकेदारनाथके दर्शनके लिये हम सभी चल पड़े। ट्रकने हमें सोनप्रयाग पहुँचाया, वहाँसे टैक्सीद्वारा हम गौरीकुण्ड पहुँचे।

गौरीकुण्डमें स्नानादिके अनन्तर भोजन किया और पैदल ही श्रीकेदारनाथके लिये चल पड़े। ऊँची-नीची सकरी पगडंडीसे मन्दाकिनीके किनारे-किनारे हमलोग चले जा रहे थे। हिमालयकी भयंकर चढ़ाई थी और बड़ी तेजीसे बर्फीली हवाएँ चल रही थीं।

उसी समय अचानक मेरे पेटमें बायीं ओर भयानक दर्द उठा। मुखसे बार-बार पानी आने लगा। ऐसा महसूस होने लगा कि वमन होगा, किंतु वमन नहीं हुआ। पेटमें जहाँपर दर्द था, वहाँ हाथसे दबाकर चल रहा था, फिर भी दर्द बंद नहीं हुआ और न ही मुखसे पानीका आना बंद हुआ। दर्द बढ़ता ही जा रहा था। मनमें भगवान्से प्रार्थना करता जा रहा था कि 'हे परमात्मन्! यदि यह दर्द बंद नहीं हुआ तो मेरी यात्रा पूर्ण नहीं हो सकेगी और बीचमें ही बिना आपका दर्शन किये मुझे लौटना पड़ेगा।' बेचैनी बहुत हो रही थी, पर प्रभुसे प्रार्थना निरन्तर चल रही थी।

'प्रभो! मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। यदि इस समय एक इलायची भी कहीं मिल जाती तो मेरा कष्ट दूर हो जाता। प्रभो! आप समर्थ हैं, सदासे आप शरणागतोंकी रक्षा करते आये हैं, इस समय आप ही मुझ असहायके सहायक हैं। बहुत ही वेदना है प्रभो! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'— ऐसे संकल्प-विकल्प करते-करते हताश होकर मैं रास्तेमें ही एक पत्थरपर बैठ गया। साथके महात्मा भी बैठ गये। उसी समय अचानक मेरी दृष्टि ऊपरकी ओर एक पत्थरपर रखी दो इलायचीके दानोंपर पड़ी। मैंने हाथ बढ़ाकर उन्हें उठाया। देखा तो वे सचमुच इलायचीके दाने ही थे। मन भावविभोर हो गया। मैंने इलायचीके कुछ बीजोंको साथके महात्माओंको दिया, शेष बीजोंको मैंने भगवान्का प्रसाद मानकर ग्रहण कर लिया। भगवत्कृपासे प्राप्त इलायचीके ग्रहण करते ही एकाएक मेरे पेटका दर्द बंद हो गया। शरीरमें नयी स्फूर्ति आ गयी। भगवान्की असीम कृपासे शरीर रोमाञ्चित हो गया। कण्ठ भर आया।

फिर तो हमारी यात्रा अबाध-रूपसे भगवान्का स्मरण करते हुए चल पड़ी। भगवान् प्रार्थना सुनते हैं, हम सच्चे हृदयसे प्रार्थना करें तो सही। और भगवान् तभी सुनते हैं जब उनका एकमात्र अवलम्बन रह जाय।

—महंत श्रीओंकारदास डाँडिया

मनन करने योग्य

सोनेके कड़ेके संस्कार

(श्रीधीरजलालजी परीख)

कदाचित् सौ मन उपदेशसे काम नहीं होता, परंतु कभी-कभी कोई ऐसा प्रेरक प्रसंग बन जाता है कि उसके प्रेरणा-प्रकाशमें अनेक व्यक्तियोंके जीवन ही प्रकाशित हो जाते हैं। हमारे आस-पास अनेक विशिष्ट लोग बसते हैं, देखनेमें सब समान लगते हैं, परंतु जब मिलाप होता है तब उनका मूल्याङ्कन होता है। उनका महत्त्व अनुभवसे ही समझा जा सकता है। ऐसे ही एक व्यक्तिकी डेढ़ सौ साल पहलेकी एक सत्य घटना इस प्रकार है—

सौराष्ट्रके माणावदर शहरमें उस समय नवाबी राज्य था। उसमें मयाराम भट्ट नामके एक गृहस्थ ब्राह्मण निवास करते थे। वे सदा संतुष्ट रहते थे। धनवान् नहीं थे, किंतु उनकी लाख टकेकी साख थी। वे गीता-भागवतके बड़े अभ्यासी थे। स्वामी सहजानन्दजीके उपदेशोंसे वे भगवद्भक्त बन गये।

एक दिन पासमें रहनेवाली एक बेवा स्त्रीने उनके पास आकर कहा—'भट्टजी! यह मेरा कड़ा पाँच तोले सोनेका है। इसे मैं आपके पासमें सुरक्षित रखकर रामेश्वर, बद्री-केदार तीर्थोंकी यात्रा करने जाती हूँ। यह अमानत, मैं जबतक न लौटूँ आप रखे रहें और न आऊँ तो दान-पुण्य कर दीजियेगा।' इतना कहकर वह स्त्री चली गयी। चूँकि पैदल यात्रापर गयी थी, इसलिये वापस लौटनेमें लगभग छः वर्षका समय लग गया। जब वापस आयी तो घर जाते समय रास्तेमें भट्टजीसे कहती गयी—'दो-चार दिनमें मैं अपनी अमानत लेती जाऊँगी।' भट्टजीने पिटारा खोलकर देखा तो उसमें सोनेका एक कड़ा रखा हुआ था। भोले स्वभावके भट्टजीने समझा कि जैसे दो हाथ होनेसे दो चूड़ियाँ, दो कान होनेसे दो बूँदें तथा दो पाँवके दो पायल होते हैं, वैसे ही हाथके कड़े भी दो रहे होंगे। तो फिर एक कड़ा कहाँ चला गया? वे बड़े विचारमें पड़ गये कि अब क्या हो, अब तो मुझे चोरीका कलङ्क लगेगा। अन्तमें वे एक निश्चयपर पहुँचे और रातमें ही सुनारके यहाँ जाकर उससे कहने लगे—'देखो भाई! कदाचित् मेरे हाथसे एक कड़ा कहीं खो गया है, इसलिये इस कड़े-जैसा ही एक दूसरा कड़ा बना दो और जो पैसा लगेगा वह मैं दे दूँगा।'

सुनारने तीन दिनमें दूसरा कड़ा बनाकर दे दिया। दोनों कड़े एक समान लग रहे थे।

उस बेवा बहनने आकर अपनी अमानत माँगी, तो मयाराम भट्टने दोनों कड़े निकालकर उसे दे दिये। यह देखकर वह स्त्री चौंक उठी, बोली—'भट्टजी! यह क्या? आप भूल कर रहे हैं, मैं तो एक ही कड़ा दे गयी थी, दो नहीं।'

वे बोले—'एक नहीं दो कड़े रहे होंगे, भूल तो आप ही कर रही हैं। जैसे दो हाथ वैसे उनके दो कड़े' लेकिन वह स्त्री दो कड़े लेनेको तैयार नहीं हुई। विवाद बढ़ा और सारे शहरमें इसका प्रचार हो गया। इस बातसे सारे शहरमें आश्चर्य फैल गया। पाँच तोले सोनेका सवाल था। दोनों अपनी-अपनी बातपर अटल थे। फैलते-फैलते यह बात वहाँके नवाब श्रीरहेमतखानजीतक भी पहुँच गयी। उन्होंने सबेरे दोनोंको बुलाया और पहले उस स्त्रीसे कहा—'बहन! कड़ा ले ले।' उसने कहा—'सरकार, भले ही मैं गरीब हूँ, किंतु लालची नहीं हूँ। मैं तो एक ही कड़ा दे गयी थी, मैं दूसरा कड़ा कैसे ले सकती हूँ?'

तब नवाबने भट्टजीसे कहा—'भट्टजी! यह कड़ा आप ही रख लें।' भट्टजी बोले—'नहीं, मेरे मुखसे एक बार जो बात निकल गयी सो निकल गयी, अब मैं कड़ा वापस नहीं लूँगा।'

नवाबने कई बार दोनोंसे बार-बार कड़ा ले लेनेका अनुरोध किया, किंतु दोनों अपनी-अपनी बातपर अटल थे। नवाबकी आँखें आँसुओंसे भर गयीं, सोचने लगे—'मेरे राज्यमें ऐसे भी ईमानदार और निर्लोभी मनुष्य हैं। अहो खुदा! अब मैं क्या करूँ?' अचानक बोले—'तुम दोनों कल सबेरे आना, तुम दोनोंपर मुकदमा चलेगा और इसकी सजा भुगतनी पड़ेगी।'

इस घटनासे सबको आश्चर्य हुआ। ईमानदारीकी भी सजा!

सबेरे कचहरीमें राजसभा आयोजित हुई। नवाबने

मयाराम भट्टसे पूछा—'तुम्हारे ये संस्कार किसके द्वारा प्रदत्त हैं ? भालमें तिलक क्यों लगा रखा है ?'

तब भट्टजी बोले—'मैं सत्संगी हूँ, श्रीसहजानन्द स्वामीजी महाराजके उपदेशकी छत्रच्छायामें जीवन व्यतीत करता हूँ।' 'तब तुम्हारी सजा है·····।' नवाब बोले ! सारी सभा उत्सुकतासे सजा सुननेको अधीर थी। '···अपने स्वामीजीको यहाँ बुलाओ और इस शहरके मध्यका सारा स्थान मैं तुम्हें भेंट करता हूँ, वहाँ विशाल देवालयका निर्माण करके मेरे राज्यके सभी मनुष्योंको ऐसे सच्चरितके आचरण करनेका पाठ पढ़ाओ। जो व्यय होगा, वह मैं दूँगा।'

फिर नवाबने उस स्त्रीसे पूछा—'तुम क्या करती हो ?' उसने जवाब दिया—'हुजूर ! मैं लोगोंके यहाँ पानी भरकर, बर्तन माँजकर, अनाज पीसकर अपना निर्वाह करती हूँ।'

नवाब बोले—'वह सब आजसे एकदम बंद, जबतक जीओगी तबतक राज्यकी ओरसे तुम्हें आदरके साथ अनाज-कपड़े आदि दिये जायँगे।'

इस सजाको सुनकर सारी सभामें आनन्दकी लहर फैल गयी। आज भी उस स्थानपर एक भव्य देवालय खड़ा है, जो सबको ईमानदारी, त्याग तथा निर्लोभिता आदिके संस्कारयुक्त पाठ पढ़ाता है।

(गुजरात-समाचार, अनु०—रमणिकलाल धीरजलाल ठाकर)

सच्ची वीरता

महाराज युधिष्ठिरने शकुनिके द्वारा छलपूर्ण जुएमें हराये जानेपर बारह वर्षतक वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके आपद्धर्मका पालन करनेके उपरान्त धरोहररूपसे रखे हुए अपने राज्यको लौटानेके लिये साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको दूतरूपसे दुर्योधनके पास भेजकर अपनी न्याययुक्त माँग पेश की। भगवान् श्रीकृष्णने नीति और धर्मयुक्त वचनोंके द्वारा दुर्योधनको बहुत समझाया, परंतु वह कब माननेवाला था। उसने स्पष्ट कह दिया—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति॥

(महा०, उद्योगपर्व १२७। २५)

'हे केशव ! तीखी सूईकी नोकसे भूमिका जितना भाग बिँध सके उतना भी हमें पाण्डवोंके लिये नहीं देना है।'

भगवान् वहाँसे निराश होकर कुन्तीदेवीके पास गये और उन्हें दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें सुनायीं। इन बातोंको सुनकर माता कुन्तीने वीर क्षत्राणी विदुलाका उदाहरण देते हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको वीरतापूर्वक युद्ध करनेका संदेश भेजा[1]। माताने युधिष्ठिरको कहलाया—

युध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम्॥

(महा०, उद्योग० १३२। ३४)

('हे कृष्ण ! युधिष्ठिरसे कहना कि) तू क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध कर, अपने पितामहोंको नरकमें न डाल तथा अपने भाइयोंसहित पुण्यहीन होकर पापियोंकी गतिको न प्राप्त हो।'

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः॥

(महा०, उद्योग० १३७। ९-१०)

'मैं महान् (सर्वश्रेष्ठ) धर्मको प्रणाम करती हूँ, क्योंकि वह सब प्रजाको धारण कर रहा है, तुम अर्जुनसे तथा नित्य उद्योग करनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणियाँ अपने पुत्रोंको जिस कामके लिये उत्पन्न करती हैं, उस कामको पूर्ण करनेका यह समय अब आ पहुँचा है, श्रेष्ठ पुरुष किसीसे वैर-भाव होनेपर दुःख नहीं उठाते हैं।'

माताके उपर्युक्त संदेशको पाकर युधिष्ठिर आदिको बिना इच्छा भी युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा।

इससे हमें यह उपदेश मिलता है कि यदि कोई हमपर अत्याचार करे तो उसको ठीक रास्तेपर लानेके लिये जहाँतक हो सके उसे प्रेमपूर्वक समझाकर काम लेना चाहिये। इसपर भी न समझे तो उसका स्वार्थ दिखलाकर दामनीतिसे काम

१- इसका विस्तार महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १३२ से १३७में है।

लेना चाहिये। यदि इस नीतिसे भी काम न चले और हमें दण्डनीतिसे काम लेना पड़े तो संसारके हितकी दृष्टि रखकर वैसा बर्ताव करना चाहिये। बिना दण्डनीतिका प्रयोग किये यदि संसारका भारी अहित होता हो तो ऐसी परिस्थितिमें दण्डनीतिका प्रयोग न करना नीतिमान् पुरुषके लिये दया नहीं, अपितु कायरता है। जिस समय दोनों सेनाओंके बन्धु-बान्धवोंको देखकर युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करते हुए अर्जुनने यह कहा कि—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥

(गीता १।३५-३६)

'हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है? हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।'

इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके इस भावको कायरतापूर्ण बतलाकर उसे युद्धमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दी। श्रीभगवान् बोले—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(गीता २।२-३)

'हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है। इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

अतएव गीताके इस आशयको समझकर ऐसे मौकेपर धीरता और गम्भीरतापूर्वक वीरताको काममें लाना चाहिये।

पूर्वापरके परिणामको बिना सोचे-समझे, द्वेषपूर्ण-बुद्धिसे, क्रोधके आवेशमें आकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा किसीका किसी प्रकार भी अहित करना वीरता नहीं है, वह तो उद्दण्डतापूर्ण हिंसा है। इसलिये जहाँ कोई अपने या दूसरे किसीपर अत्याचार करता हो, उस मौकेपर उस अत्याचारका प्रतीकार करनेके लिये बहुत धैर्यके साथ पूर्वापरको सोचकर काम करना चाहिये। जैसे पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें जब शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजासे क्षुब्ध होकर अनेक प्रकारके न कहने योग्य दुर्वचन कहने लगा तो भगवान् श्रीकृष्णने धीरताके साथ उनको सहन करते हुए विचारपूर्वक निर्भयताके साथ सभासदोंसे कहा कि यह शिशुपाल अनुचित कर रहा है। इसपर वह दुष्ट हँसकर भगवान्का तिरस्कार करता हुआ और भी बकने लगा। जब उसके अत्याचारकी मात्रा अत्यन्त बढ़ गयी तो भगवान्को उसे दण्ड देना पड़ा। यह धीरता और गम्भीरतासे युक्त वीरताका निदर्शन है[१]। अतएव अहंकार, आसक्ति, ममता और स्वार्थको त्यागकर लोकहितके लिये कर्तव्यबुद्धिसे किसीको जानसे मार डालना भी वास्तवमें हिंसा नहीं है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८।१७)

'जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'

इसलिये मनुष्योंको उचित है कि यदि कहीं किसी स्त्री, बालक, अनाथ, दीन-दुःखी और निर्बल प्राणीपर कोई बलवान् किसी प्रकारका भी अत्याचार करता हो तो उस अत्याचारको मिटानेके लिये साम और दामसे काम न चलनेपर अहंकार, स्वार्थ और आसक्तिको त्यागकर दण्डका प्रयोग करना चाहिये। ऐसी परिस्थितिमें पड़नेपर यदि प्राणोंका भी नाश हो जाय तो उसमें कल्याण ही है। यदि कोई हमारे साथ भी अत्याचार करे और उससे हमारी या किसीकी हानि होती हो तो उस समय राग-द्वेषरहित होकर आत्मरक्षाके लिये

१- महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३७ से ४५में इसका विस्तृत वर्णन है।

उसका प्रतीकार करना कोई पाप नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर उसके उपरान्त युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यदि कोई आदमी किसी विधर्मीद्वारा धर्मत्यागके लिये दबाया जाय तो उस स्थानपर धर्मकी रक्षाके लिये अपना प्राण भले ही त्याग दे, पर धर्मका त्याग न करे, इसीमें कल्याण है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

'अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है, पर दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।'

जो देहात्मवादी अज्ञलोग शरीरको ही आत्मा मानते हैं अर्थात् शरीरके नाशसे आत्माका मरना मानते हैं, वे लोग ही अनुचित आक्रमणका सामना करनेमें काँपने लग जाते हैं और वीरतापूर्वक प्रतीकार नहीं कर सकते, किंतु जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करके आत्मतत्त्वका रहस्य जान लिया है, वे शरीरके नाशसे आत्माका विनाश नहीं मानते। भगवान्ने गीतामें यह सिद्धान्त बतलाया है कि जो सत् वस्तु है, उसका विनाश नहीं होता और मिथ्या वस्तु कायम नहीं रहती। इस सिद्धान्तके अनुसार अकर्ता, निर्विकारी, चेतन आत्माको नित्य और अविनाशी होनेसे सत् बतलाया गया है और नाशवान् क्षणभङ्गुर, विकाररूप इस जड देहको अनित्य होनेसे असत् बतलाया गया है[1]।

इसलिये वे आत्मतत्त्वको जाननेवाले मृत्युसे निर्भय होकर धीरता और गाम्भीरतापूर्वक वीरताके द्वारा अत्याचारोंका अन्त कर डालते हैं।

वास्तवमें तो यदि कोई किसीपर अत्याचार करता है तो वह अत्याचार स्वयं ही उस अत्याचारीका विनाश कर डालता है। जैसे प्रह्लादपर किये गये अत्याचारने हिरण्यकशिपुका, दमयन्तीपर किये गये अत्याचारने व्याधका, सीतापर किये गये अत्याचारने रावणका, शचीपर किये गये अत्याचारने राजा नहुषका, वसुदेव-देवकी और उनके पुत्रोंपर किये गये अत्याचारोंने कंसका, द्रौपदीपर किये गये अत्याचारने दुर्योधन, दुःशासन और जयद्रथादिका, ईसापर किये गये अत्याचारोंने यहूदियोंके शासनका और गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंपर किये गये अत्याचारने मुगलशासनका विनाश कर डाला।

इसी प्रकारके और भी बहुत-से उदाहरण हैं। यद्यपि अत्याचार स्वयं ही अत्याचारीका नाश कर डालता है, किंतु जिसपर अत्याचार होता है, वह भी यदि आत्मरक्षाके लिये प्रत्याक्रमण करे तो कोई दोष नहीं है, इसलिये सब कुछ भगवान्की लीला समझकर निरन्तर भगवान्का स्मरण रखते हुए भगवान्की प्रीतिके लिये ही यह सब करना चाहिये। जो मनुष्य इस प्रकार भगवान्में मन-बुद्धि लगाकर भगवान्को निरन्तर याद रखता हुआ भगवान्के आज्ञानुसार कर्तव्य कर्मका आचरण करता है, वह भगवान्को ही प्राप्त होता है।

भगवान्ने स्वयं कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

'भारतवर्षकी स्त्री-जातिका गौरव उसके विलक्षण सतीत्व और मातृत्वमें ही है। और स्त्री-जातिका यह गौरव भारतका गौरव है। इसकी रक्षा सबको प्राणपणसे करनी चाहिये।'—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

('दाम्पत्य-जीवनका आदर्श' पुस्तकसे)

---

[1]- यह सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २ में श्लोक ११ से ३० तक विस्तारसे समझाया गया है।

‘कल्याण’ के सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

(१) ‘कल्याण’ के ६६वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क आपकी सेवामें प्रस्तुत है। आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कके प्रकाशित हो जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी ६७वें वर्ष (जनवरी १९९३ई०) के विशेषाङ्कके रूपमें ‘शिवोपासनाङ्क’ प्रकाशित होना सुनिश्चित हुआ है, जिसकी विस्तृत जानकारी गत फरवरी १९९२ई० अङ्क (संख्या २) में और अब तद्विषयक आवश्यक परिचय इस अङ्कके अन्तिम आवरण-पृष्ठपर देखा जा सकता है। विशेषाङ्ककी विषय-वस्तु लोकप्रिय, उपासनात्मक एवं शिव-भक्तिके आदर्श प्रेरक चरित्रों और शिव-महिमाकी अनेक रोचक कथाओंसे युक्त होनेके कारण सभी वर्गके पाठकोंके लिये आकर्षक और उपादेय है। अतएव इस अङ्ककी बहुत अधिक माँग होनेकी सम्भावना है।

(२) इस बार भी कागज आदिके मूल्योंमें यद्यपि पर्याप्त वृद्धि हुई है, तथापि नये वर्षमें ‘कल्याण’ का वार्षिक शुल्क पूर्ववत् ५५.०० (पचपन रुपये) ही रखा गया है। पृष्ठ-संख्या भी वही रहेगी। विदेशके लिये हवाई डाकका वार्षिक शुल्क $ २०.०० अथवा समुद्री-डाकसे $ ९.०० है। शुल्क-राशि अग्रिम भेजनेवाले सज्जनोंको अङ्क-प्रेषणमें प्राथमिकता दी जायगी। अतएव पुराने तथा नये ग्राहकोंको ५५.०० (पचपन रुपये) मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये।

(३) ग्राहक महानुभावोंके सुविधार्थ इस अङ्कमें मनीआर्डर-फार्म संलग्न है। मनीआर्डर-फार्मके पीछे नीचेवाले हिस्सेपर आपकी ग्राहक-संख्या-सहित पूरा पता अङ्कित है, उसे कृपया सावधानीपूर्वक देख लें। यदि कोई भूल-सुधार या परिवर्तन आवश्यक हो तो अपना सही पता उसके दूसरी ओर नीचे छपे मनीआर्डर-कूपनपर सुस्पष्ट लिपि और सुवाच्य अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें।

(४) सजिल्द विशेषाङ्क सुलभ है, अतः जो सज्जन सजिल्द अङ्क चाहते हों, उन्हें ६०.०० (साठ रुपये) भेजने चाहिये।

(५) जिन वर्तमान ग्राहकोंको किसी कारणवश अगले वर्ष ग्राहक न रहना हो, वे कृपया इसकी सूचना अवश्य देनेका कष्ट करें। जिससे उन्हें वी० पी० पी० न भेजकर डाकखर्चकी हानिसे बचा जा सके।

(६) प्रत्येक पत्राचारमें अपनी ग्राहक-संख्या तथा पूरा पता पिनकोड-नम्बरसहित लिखना चाहिये।

(७) ‘कल्याण’-प्रचारके इच्छुक सज्जन, पुस्तक-विक्रेता और समाजसेवी प्रतिष्ठान विशेषाङ्ककी कम-से-कम ५० या इससे अधिक प्रतियाँ एक साथ मँगाकर ‘कल्याण’ के प्रचार-प्रसारमें सहयोग दे सकते हैं। इसके लिये उन्हें ५.०० (पाँच रुपये) प्रति ग्राहककी दरसे प्रोत्साहन-राशि (कमीशनके रूपमें) दी जायगी, उनके द्वारा बनाये गये ग्राहकोंको पूरे वर्ष अङ्क-वितरणकी व्यवस्था उन्हें स्वयं ही करनी होगी।

(८) गीताप्रेसका ‘पुस्तक-विक्रय-विभाग’ एवं ‘कल्याण-कल्पतरु-विभाग’ ‘कल्याण-विभाग’ से अलग है। अतः पुस्तकोंके लिये तथा ‘कल्याण-कल्पतरु’ अंग्रेजी मासिक पत्र-विषयक पत्रव्यवहार सम्बन्धित विभागोंके पतोंपर अलग-अलग करना चाहिये, उपर्युक्त विभागोंसे सम्बन्धित राशि भी उनके अलग-अलग पतोंपर ही भेजना उचित है।

(९) ‘कल्याण’ के प्रेमी पाठकों और ग्राहक महानुभावोंसे विशेष अनुरोध है कि वे ‘कल्याण’ के प्रचार-प्रसारमें सक्रिय योगदान करें। अपने इष्ट मित्रों और परिचितोंमेंसे कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक वे अवश्य बनानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

'कल्याण'का आगामी (जनवरी १९९३ ई॰ का) विशेषाङ्क

'शिवोपासनाङ्क'

भगवान् शिव जगन्नियन्ता जगदीश्वर हैं। ईश्वर और महेश्वर शिवके ही पर्याय हैं। भगवान् शिवको परात्पर परमात्मा मानकर उपासना करनेवालोंके लिये तो वे परब्रह्म हैं ही। अन्यान्य भगवत्स्वरूपोंके उपासकोंके लिये भी भगवान् शिव मार्गदर्शक परम गुरु हैं। इस स्थितिमें जिस किसी भी दृष्टिसे शिवको परात्पर, परमात्मा, महाज्ञानी, महादेव, योगीश्वर, जगद्गुरु, सद्गुरु, उत्पादक, संहारक—कुछ भी मानकर उनकी उपासना करना सबके लिये परम श्रेयस्कर है।

शुद्ध अन्तःकरण और अतिशय श्रद्धा एवं विशुद्ध प्रेम तथा भक्तिपूर्वक की गयी शिवोपासनाका बड़ा महत्त्व है। सदाशिवकी पूजा-आराधना सर्वसौख्यप्रदायक और परम शान्तिदायक होनेके साथ ही परम श्रेय—कल्याण या कैवल्य प्रदान करनेवाली है। यह भी सत्य है कि भगवान् शिवके शरणापन्न उपासक अपनी उपासनीय उत्कट साधनाद्वारा साक्षात् 'शिव' को ही प्राप्त कर लेता है। उन्हीं भगवान् शिवके मङ्गलमय विधान और उनकी अपार अमृतमयी अनुकम्पासे 'कल्याण'के आगामी ६७वें वर्ष (जनवरी १९९३ ई॰) के विशेषाङ्कके रूपमें 'शिवोपासनाङ्क' प्रकाशित करनेका निर्णय लिया गया है। जिसकी सूचना 'कल्याण'के फरवरी १९९२के अङ्कमें दी जा चुकी है।

इस अङ्कमें शिव-तत्त्व और शिवोपासनाके जानने योग्य अधिकांश पक्षोंपर मननीय, विचार-प्रेरक एवं उपयोगी, अनुष्ठेय सामग्रीका संनिवेश होगा। उदाहरणार्थ—इसमें शिवतत्त्व-मीमांसा, शिवोपासनाकी अनादिता, भगवान् शंकरका प्रणवरूप, आशुतोष शिव, उमा-महेश्वर, शिव और विष्णुकी अभिन्नता, आगम-निगम-साहित्यमें शिव-साधना, पुराणोंमें शिवोपासना, शिवभक्तोंके दिव्य मधुर चरित्र तथा शिवोपासनाके विविध स्वरूप आदि अनेक परमोपयोगी महत्त्वपूर्ण विषयोंपर बहुमूल्य दिग्दर्शन रहेगा। प्रसंगानुसार इसमें अनेक भावमय सुन्दर बहुरंगे, सादे तथा रेखाचित्र भी रहेंगे। 'कल्याण'-विशेषाङ्कोंकी गौरवपूर्ण परम्परामें यह विशेषाङ्क भी अपने प्रतिपाद्य विषयका अन्यतम उपयोगी संग्रह सिद्ध हो सकता है—ऐसी आशा है।

विशेषाङ्ककी मुद्रण-प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी है। यह समयसे प्रकाशित हो, ऐसा हमारा यथासम्भव प्रयास है। गत वर्षकी अपेक्षा इधर यद्यपि छपाई आदिके उपकरणोंके मूल्य तथा वेतन आदिमें पर्याप्त वृद्धि हुई है, तथापि इस वर्ष 'कल्याण'के मूल्यमें कोई वृद्धि न करके गत वर्षकी भाँति वार्षिक शुल्क पूर्ववत् रु॰ ५५.०० मात्र ही रखा गया है। सभी इच्छुक सज्जनोंको तदर्थ शुल्कराशि मनीआर्डर अथवा बैंक ड्राफ्टद्वारा अग्रिम भेजकर अपनी प्रति पूर्व सुरक्षित करा लेनी चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो॰—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

जयपुरके ग्राहकोंके लिये:—

जयपुर-स्थित हमारे अधिकृत विक्रेता—**गीताप्रेस-पुस्तक-प्रचार केन्द्र (बुलियन बिल्डिंगके अंदर, हल्दियोंका रास्ता), जयपुर-३०२००३ (दूरभाष-५६३३७९)** द्वारा 'कल्याण'-वितरणकी विशेष स्थानीय व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत आगामी सन् १९९३ ई॰ का विशेषाङ्क भी वहाँके इच्छुक ग्राहक महानुभावोंको प्राप्त हो सकेगा। साधारण अङ्क यद्यपि गोरखपुरसे सीधे डाक द्वारा भेजे जाते हैं, तथापि जयपुर-केन्द्रपर शुल्क-राशि जमा कराते समय नोट करवा देनेपर सभी मासिक अङ्क जयपुरमें ही प्राप्त हो सकते हैं। वार्षिक शुल्क रु॰ ५५.०० अथवा सजिल्दके लिये रु॰ ६०.०० उक्त वितरण-केन्द्रपर जमा करके इच्छुक सज्जनोंको इस स्थानीय सुविधासे लाभ उठाना चाहिये। तदर्थ विशेष मनीआर्डर-फार्म संलग्न।

व्यवस्थापक—'कल्याण'